तत्त्वार्थसार

श्रीमद् अमृतचन्द्र आचार्य

ॐ

तत्त्वार्थसार

श्रीमद् अमृतचन्द्र आचार्य

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि

रचना-परिचय

अमृतचन्द्रसूरि की रचनाओं को दो कोटि में रखा जा सकता है

(क) मौलिक रचनाएँ :

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय: यह श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसमें 226 पद्य आर्यावृत्त छन्द में लिखे गये हैं। इसमें श्रावकधर्म के वर्णन के साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का सुन्दर कथन किया गया है।

2. तत्त्वार्थसार: आचार्य उमास्वामी (गृद्धपिच्छाचार्य) के तत्त्वार्थसूत्र के सार को लेकर आचार्य अमृतचन्द्र ने इस स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है। इसमें 718 श्लोक हैं। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के साथ-साथ सात तत्त्वों का भी वर्णन है । यह ग्रन्थ 9 अधिकारों में विभक्त है।

(ख) टीकाग्रन्थ :

1. समयसार-टीका: आचार्य अमृतचन्द्र की समयसार-टीका ‘आत्मख्याति’ के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य ने इसे प्रांजल शैली में लिखा है, इन्होंने गाथा के शब्दों का व्याख्यान न करके उसके अभिप्राय को अपनी परिष्कृत गद्यशैली में व्यक्त किया है। टीका के पद्य अलग से भी 'समयसार कलश' नाम से प्रसिद्ध हैं ।

2. प्रवचनसार-टीका: प्रवचनसार की टीका का नाम तत्त्वप्रदीपिका है। यह टीका भी प्राञ्जलशैली में लिखी गयी है। इस टीका में भी आचार्य की आध्यात्मिक रसिकता, आत्मानुभव, प्रखरविद्वत्ता, वस्तुस्वरूप को तर्कपूर्वक सिद्ध करने की आसाधारण शक्ति, निश्चय-व्यवहार का क्रमबद्ध निरूपण आदि अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं।

3. पंचास्तिकाय-टीका: पंचास्तिकाय की 173 गाथाओं पर भी आचार्य अमृतचन्द्र ने टीका लिखी है जो उक्त दोनों ग्रन्थों के समान ही है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने पंचास्तिकाय के विषय को अपनी टीका में विस्तृत और स्पष्ट बनाने का पूर्ण प्रयास किया है। इस टीका का नाम 'तत्त्वदीपिका' है।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि कृतः

तत्त्वार्थसारः

मङ्गलाचरण

जयत्यशेषतत्त्वार्थप्रकाशि प्रथितश्रियः।
मोहध्वान्तौघनिर्भेदि ज्ञानज्योतिर्जिनेशिनः॥१॥

अर्थ- जिनकी अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरङ्गलक्ष्मी और अष्टप्रातिहार्यरूप बहिरङ्गलक्ष्मी प्रसिद्ध है ऐसे जिनेन्द्रभगवान् की वह ज्ञानरूप ज्योति जयवन्त है-सर्वोत्कृष्टरूप से विद्यमान है जो कि समस्त समीचीन तत्त्वों को प्रकाशित करनेवाली है तथा मोहरूपी अन्धकार के समूह को नष्ट करनेवाली है।

अथ तत्त्वार्थसारोऽयं मोक्षमार्गैकदीपकः।
मुमुक्षूणां हितार्थाय प्रस्पष्टमभिधीयते॥२॥

अर्थ- अब मोक्षाभिलाषी जीवों के हित के लिये मोक्षमार्ग को दिखलाने के हेतु प्रमुख दीपकस्वरूप यह तत्त्वार्थसार नाम का ग्रन्थ अत्यन्त स्पष्टरूप कहा जाता है।

स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः।
मार्गो मोक्षस्य भव्यानां युक्त्यागमसुनिश्चितः॥३॥

अर्थ- भव्यजीवों के मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के समूहरूप है जो युक्ति और आगम से अच्छी तरह निश्चित है।

श्रद्धानं दर्शनं सम्यग्ज्ञानं स्यादवबोधनम्।
उपेक्षणं तु चारित्रं तत्त्वार्थानां सुनिश्चितम्॥४॥

अर्थ- तत्त्व-अपने-अपने यथार्थ स्वरूप से सहित जीव, अजीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन, उनका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान और रागादि-भावों की निवृत्तिरूप उपेक्षा होना सम्यक्चारित्र सुनिश्चित है।

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाविषयत्वमिता ह्यतः।
बोध्याः प्रागेव तत्त्वार्था मोक्षमार्गं बुभुत्सुभिः॥५॥

अर्थ- मोक्षमार्ग को जानने के इच्छुक जीवों को सबसे पहले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के विषयभूत तत्त्वार्थ जानने के योग्य हैं।

जीवोऽजीवास्रवौ बन्धः संवरो निर्जरा तथा।
मोक्षश्च सप्त तत्त्वार्था मोक्षमार्गैषिणामिमे॥६॥

अर्थ- मोक्षमार्ग की इच्छा करनेवाले जीवों के लिये जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ जानने के योग्य हैं।

उपादेयतया जीवोऽजीवो हेयतयोदितः।
हेयस्यास्मिन्नुपादानहेतुत्वेनास्रवः स्मृतः॥७॥
हेयस्यादानरूपेण बन्धः स परिकीर्तितः।
संवरो निर्जरा हेयहानहेतुतयोदितौ।
हेयप्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शितः॥८॥

(षट्पदम्)

अर्थ- इन सात तत्त्वों में जीवतत्त्व उपादेयरूप से और अजीवतत्त्व हेय-रूप से कहा गया है अर्थात् जीवतत्त्व ग्रहण करने योग्य और अजीवतत्त्व छोड़ने योग्य बतलाया गया है। छोड़ने योग्य अजीवतत्त्व के ग्रहण का कारण होने से आस्रवतत्त्व कहा गया है तथा छोड़ने योग्य अजीवतत्त्व के ग्रहणरूप होने से बन्ध-तत्त्व का निर्देश हुआ है। संवर और निर्जरा ये दो तत्त्व, अजीवतत्त्व के छोड़ने में कारण होने से कहे गये हैं और छोड़ने योग्य अजीवतत्त्व के छोड़ देने से जीव की जो अवस्था होती है उसे बतलाने के लिये मोक्षतत्त्व दिखाया गया है।

तत्त्वार्थाः सन्त्यमी नामस्थापनाद्रव्यभावतः।
न्यस्यमानतयादेशात् प्रत्येकं स्युश्चतुर्विधाः॥९॥

अर्थ- ये सातों तत्त्वार्थ नाम, स्थापना, द्रव्य और भावनिपेक्ष के द्वारा व्यवहार में आते हैं, इसलिए प्रत्येक तत्त्वार्थ चार-चार प्रकार का होता है। जैसे नामजीव, स्थापनाजीव, द्रव्यजीव और भावजीव आदि।

या निमित्तान्तरं किञ्चिदनपेक्ष्य विधीयते।
द्रव्यस्य कस्यचित्संज्ञा तन्नाम परिकीर्तितम्॥१०॥

अर्थ- जाति, गुण, क्रिया आदि किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा न कर किसी द्रव्य की जो संज्ञा रखी जाती है वह नामनिपेक्ष कहा गया है।

सोऽयमित्यक्षकाष्ठादेः सम्बन्धेनान्यवस्तुनि।
यद्व्यवस्थापनामात्रं स्थापना साभिधीयते॥११॥

अर्थ- पांसा तथा काष्ठ आदि के सम्बन्ध से 'यह वह है' इस प्रकार अन्य वस्तु में जो किसी अन्य वस्तु की व्यवस्था की जाती है वह स्थापनानिक्षेप कहलाता है।

भाविनः परिणामस्य यत्प्राप्तिं प्रति कस्यचित्।
स्याद्गृहीताभिमुख्यं हि तद्द्रव्यं ब्रुवते जिनाः॥१२॥

अर्थ- किसी द्रव्य को, आगे होनेवाली पर्याय की अपेक्षा वर्तमान में ग्रहण करना द्रव्यनिक्षेप है, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

वर्तमानेन यत्नेन पर्यायेणोपलक्षितम्।
द्रव्यं भवति भावं तं वदन्ति जिनपुङ्गवाः॥१३॥

अर्थ- वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को जिनेन्द्र भगवान् भावनिक्षेप कहते हैं।

तत्त्वार्थाः सर्व एवैते सम्यग्बोधप्रसिद्धये।
प्रमाणेन प्रमीयन्ते नीयन्ते च नयैस्तथा॥१४॥

अर्थ- ये सभी तत्त्वार्थ सम्यग्ज्ञान की प्रसिद्धि के लिये प्रमाण के द्वारा प्रमित होते हैं और नयों के द्वारा नीत होते हैं अर्थात् प्रमाण और नयों के द्वारा जाने जाते हैं।

सम्यग्ज्ञानात्मकं तत्र प्रमाणमुपवर्णितम्।
तत्परोक्षं भवत्येकं प्रत्यक्षमपरं पुनः॥१५॥

अर्थ- उन प्रमाण और नयों में प्रमाण को सम्यग्ज्ञानरूप कहा है अर्थात् समीचीनज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके दो भेद हैं-एक परोक्ष प्रमाण और दूसरा प्रत्यक्षप्रमाण।

समुपात्तानुपात्तस्य प्राधान्येन परस्य यत्।
पदार्थानां परिज्ञानं तत्परोक्षमुदाहृतम्॥१६॥

अर्थ- गृहीत अथवा अगृहीत पर की प्रधानता से जो पदार्थों का ज्ञान होता है उसे परोक्षप्रमाण कहा गया है।

इन्द्रियानिन्द्रियापेक्षामुक्तमव्यभिचारि च।
साकारग्रहणं यत्स्यात्तत्प्रत्यक्षं प्रचक्ष्यते॥१७॥

अर्थ- इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से मुक्त तथा दोषों से रहित पदार्थ का जो सविकल्पज्ञान होता है उसे प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं।

सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं विदुः।
मतिश्रुतावधिज्ञानं मनः पर्ययकेवलम्॥१८॥

अर्थ- जो स्व-पर को जानता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं- १ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मनःपर्ययज्ञान, और ५ केवल-ज्ञान।

स्वसंवेदनमक्षोत्थं विज्ञानं स्मरणं तथा।
प्रत्यभिज्ञानमूहश्च स्वार्थानुमितिरेव वा॥१९॥
बुद्धिर्मेधादयो याश्च मतिज्ञानभिदा हि ताः।
इन्द्रियानिद्रियेभ्यश्च मतिज्ञानं प्रवर्तते॥२०॥

अर्थ- स्वसंवेदनज्ञान, इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाला विज्ञान, स्मरण, प्रत्यभि-ज्ञान, तर्क, स्वार्थानुमिति, बुद्धि और मेधा आदि जो ज्ञान हैं वे मतिज्ञान के भेद हैं। यह मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से प्रवृत्त होता है।

अवग्रहस्ततस्त्वीहा ततोऽवायोऽथ धारणा।
बहोर्बहुविधस्यापि क्षिप्रस्यानिःसृतस्य च॥२१॥
अनुक्तस्य ध्रुवस्येति सेतराणां तु ते मताः।
व्यक्तस्यार्थस्य विज्ञेयाश्चत्वारोऽवग्रहादयः॥२२॥
व्यञ्जनस्य तु नेहाद्या एक एव ह्यवग्रहः।
अप्राप्यकारिणी चक्षुर्मनसी परिवर्ज्य सः॥२३॥
चतुर्भिरिन्द्रियैरन्यैः क्रियते प्राप्यकारिभिः।

अर्थ- मतिज्ञान में सबसे पहले अवग्रह होता है, उसके बाद ईहा होती है, उसके पश्चात् अवाय होता है और उसके बाद धारणा होती है। अर्थात् अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञान के क्रम से विकसित होनेवाले भेद हैं। ये चार भेद बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और अध्रुव तथा इनसे विपरीत एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत उक्त और ध्रुव इन बारह प्रकार के पदार्थों के होते हैं। इनमें से व्यक्त अर्थात् स्पष्ट पदार्थ के अवग्रह आदि चारों ज्ञान होते हैं परन्तु व्यञ्जन अर्थात् अस्पष्ट पदार्थ के ईहा आदि तीन ज्ञान नहीं होते, मात्र अवग्रह ही होता है। व्यञ्जनावग्रह दूर से पदार्थ को जाननेवाले चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से होता है। चक्षु और मन के सिवाय शेष इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं अर्थात् पदार्थ से सम्बद्ध होकर पदार्थ को जानती हैं।

मतिपूर्वं श्रुतं प्रोक्तमविस्पष्टार्थ तर्कणम्॥२४॥
तत्पर्यायादिभेदेन व्यासाद्विंशतिधा भवेत्।

अर्थ- मतिज्ञान के बाद अस्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिये हुए जो ज्ञान होता है। उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। विस्तार की अपेक्षा पर्याय

आदि के भेद से श्रुतज्ञान बीस तरह का होता है।

परापेक्षां विना ज्ञानं रूपिणां भणितोऽवधिः॥२५॥
अनुगोऽननुगामी च तदवस्थोऽनवस्थितिः।
वर्धिष्णुर्हीयमानश्च षड्विकल्पः स्मृतोऽवधिः॥२६॥
देवानां नारकाणां च स भवप्रत्ययो भवेत्।
मानुषाणां तिरश्चां च क्षयोपशमहेतुकः॥२७॥

अर्थ- इन्द्रियादिक परपदार्थों की अपेक्षा के विना रूपी पदार्थों का जो ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान कहा गया है। अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अनवस्थित, वर्धमान और हीयमान के भेद से वह अवधिज्ञान छह प्रकार का स्मरण किया गया है। इनके सिवाय अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और क्षयोपशमहेतुक इस प्रकार दो भेद और माने गये हैं। इनमें देव और नारकियों के भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है तथा मनुष्य और तिर्यञ्चों के क्षयोपशमहेतुक अवधिज्ञान होता है।

परकीयमनः स्थार्थज्ञानमन्यानपेक्षया।
स्यान्मनःपर्ययो भेदौ तस्यर्जुविपुले मती॥२८॥

अर्थ- अन्य पदार्थों की अपेक्षा के विना दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानना मनःपर्ययज्ञान है। इसके ऋजुमति और विपुलमति इस प्रकार दो भेद हैं।

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां विशेषश्चिन्त्यतां तयोः।
स्वामिक्षेत्र विशुद्धिभ्यो विषयाच्च सुनिश्चितः॥२९॥
स्याद्विशेषोऽवधिज्ञानमनः पर्ययबोधयोः।

अर्थ- विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा ऋजुमति तथा विपुलमति में विशेषता जाननी चाहिये। और स्वामी, क्षेत्र, विशुद्धि तथा विषय की अपेक्षा अवधि और मनःपर्ययज्ञान में विशेषता सुनिश्चित है।

असहायं स्वरूपोत्थं निरावरणमक्रमम्॥३०॥
घातिकर्मक्षयोत्पन्नं केवलं सर्वभावगम्।

अर्थ- जो किसी बाह्य पदार्थ की सहायता से रहित हो, आत्मस्वरूप से उत्पन्न हो, आवरण से रहित हो, क्रमरहित हो, घातियाकर्मों के क्षय से उत्पन्न हुआ हो तथा समस्त पदार्थों को जानने वाला हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

मतेर्विषयसम्बन्धः श्रुतस्य च निबुध्यताम्॥३१॥
असर्वपर्ययेष्वत्र सर्वद्रव्येषु धीधनैः।
असर्वपर्ययेष्विष्टो रूपिद्रव्येषु सोऽवधेः॥३२॥
स मनःपर्ययस्येष्टोऽनन्तांशेऽवधिगोचरात्।
केवलस्याखिलद्रव्य पर्यायेषु स सूचितः॥३३॥

अर्थ- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय सम्बन्ध समस्त पर्यायों से रहित समस्त द्रव्यों में बुद्धिमानों को जानना चाहिये। अवधिज्ञान का विषय सम्बन्ध समस्त पर्यायों से रहित रूपीद्रव्यों-पुद्गल और संसारी जीवों में है। मनःपर्यय-ज्ञान का विषय सम्बन्ध अवधिज्ञान के विषय से अनन्तवें भाग है और केवलज्ञान का विषय सम्बन्ध समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों में कहा गया है।

जीवे युगपदेकस्मिन्नेकादीनि विभावयेत्।
ज्ञानानि चतुरन्तानि न तु पञ्च कदाचन॥३४॥

अर्थ- एक जीव में एकसाथ एक को आदि लेकर चार तक ज्ञान हो सकते हैं। पाँच ज्ञान एक साथ कभी नहीं होते।

मतिः श्रुतावधी चैव मिथ्यात्वसमवायिनः।
मिथ्याज्ञानानि कथ्यन्ते न तु तेषां प्रमाणता॥३५॥
अविशेषात्सदसतोरुपलब्धेर्यदृच्छया।
यत उन्मत्तवज्ज्ञानं न हि मिथ्यादृशोऽञ्जसा॥३६॥

अर्थ- मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान यदि मिथ्यात्व के साथ सम्बन्ध रखने वाले हैं तो मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं और उस दशा में उनमें प्रमाणता नहीं मानी जाती। मिथ्यादृष्टि जीव को सत् और असत् वस्तु का ज्ञान पागल मनुष्य समान स्वेच्छानुसार समानरूप से होता है, इसलिये उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता है।

वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाणव्यञ्जितात्मनः।
एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा मतः॥३७॥

अर्थ- प्रमाण के द्वारा जिसका स्वरूप प्रकट है ऐसी अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक देश को जो जानता है वह नय है। नय अनेक प्रकार का माना गया है।

द्रव्यपर्यायरूपस्य सकलस्यापि वस्तुनः।
नयावंशेन नेतारौ द्वौ द्रव्यपर्यायार्थिकौ॥३८॥
अनुप्रवृत्तिः सामान्यं द्रव्यं चैकार्थवाचकाः।
नयस्तद्विषयो यः स्याज्ज्ञेयो द्रव्यार्थिको हि सः॥३९॥
व्यावृत्तिश्च विशेषश्च पर्यायश्चैकवाचकाः।
पर्यायविषयो यस्तु स पर्यायार्थिको मतः॥४०॥

अर्थ- संसार की सभी वस्तुएँ द्रव्य और पर्यायरूप हैं। वस्तु की इन दोनों रूपता को एक अंश से ग्रहण करनेवाले द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय हैं। अर्थात् जब वस्तु की द्रव्यरूपता को ग्रहण किया जाता है तब द्रव्यार्थिकनय का उदय होता है और जब पर्यायरूपता को ग्रहण किया जाता है तब पर्यायार्थिक-नय का उदय होता है। अनुप्रवृत्ति, सामान्य और द्रव्य ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं अर्थात् तीनों का एक ही अर्थ होता है। जो नय इन्हें विषय करता है वह द्रव्यार्थिक नय है। व्यावृत्ति, विशेष और पर्याय ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। जो नय पर्याय को विषय करता है वह पर्यायार्थिकनय कहलाता है।

शुद्धाशुद्धार्थसंग्राही त्रिधा द्रव्यार्थिको नयः।
नैगमसंग्रहश्चैव व्यवहारश्च संस्मृतः॥४१॥

अर्थ- शुद्ध और अशुद्ध अर्थ को ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिकनय तीन प्रकार का माना गया है-१ नैगम, २ संग्रह और ३ व्यवहार।

चतुर्धा पर्यायार्थः स्यादृजुशब्दनयाः परे।
उत्तरोत्तरमत्रैषां सूक्ष्मसूक्ष्मार्थ भेदता।
शब्दः समभिरूढैवंभूतौ ते शब्दभेदगाः॥४२॥

(षट्पदम्)

चत्वारोऽर्थनया आद्यास्त्रयः शब्दनयाः परे।
उत्तरोत्तरमत्रैषां सूक्ष्मगोचरता मता॥४३॥

अर्थ- पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं-१ ऋजुसूत्रनय २ शब्दनय, ३ समभिरूढनय और ४ एवंभूतनय। इन नयों में उत्तरोत्तर अर्थ की सूक्ष्मता रहती है। अथवा प्रारम्भ के चार नय अर्थनय हैं और आगे

के तीन नय शब्द-नय हैं। इन नयों में भी उत्तरोत्तर विषय की सूक्ष्मता मानी गई है।

अर्थसंकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः।
प्रस्थौदनादिजस्तस्य विषयः परिकीर्तितः॥४४॥

अर्थ- जो नय पदार्थ के संकल्पमात्र को ग्रहण करता है वह नैगमनय है। जैसे कोई मनुष्य जंगल को जा रहा था, उससे किसी ने पूछा कि-जंगल किसलिये जा रहे हो? उसने उत्तर दिया कि प्रस्थ लाने जा रहा हूँ। प्रस्थ एक परिमाण-का नाम है। जंगल में प्रस्थ नहीं मिलता है। वहाँ से लकड़ी लाकर प्रस्थ बनाया जावेगा, परन्तु जंगल जानेवाला व्यक्ति उत्तर देता है कि-प्रस्थ लाने के लिये जा रहा हूँ। यहाँ प्रस्थ के संकल्पमात्र को ग्रहण करने से नैगमनय का वह विषय माना गया है। दूसरा दृष्टान्त ओदन का है। कोई मनुष्य लकड़ी, पानी, आगी आदि एकत्रित कर रहा था। उससे किसीने पूछा-क्या कर रहे हो? उत्तर दिया, ओदन अर्थात् भात बना रहा हूँ। यद्यपि उस समय वह भात नहीं बना रहा था, सिर्फ सामग्री एकत्रित कर रहा था तो भी भात का संकल्प होने से उसका वह उत्तर नैगमनय का विषय स्वीकृत किया गया है।

भेदेनैक्यमुपानीय स्वजातेरविरोधतः।
समस्तग्रहणं यस्मात्स नयः संग्रहो मतः॥४५॥

अर्थ- अपनी जाति का विरोध न करते हुए भेद द्वारा एकत्व को प्राप्त कर समस्त पदार्थों का ग्रहण जिससे होता है वह संग्रहनय माना गया है। जैसे सत्, द्रव्य और घट आदि। अर्थात् सत् के कहने से समस्त सतों का ग्रहण होता है, द्रव्य के कहने से समस्त

द्रव्यों का संग्रह होता है और घट के कहने से समस्त घटों का बोध होता है। संग्रहनय में अवान्तर विशेषताओं को गौण कर सामान्य को विषय किया जाता है।

संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः।
व्यवहारो भवेद्यस्माद् व्यवहारनयस्तु सः॥४६॥

अर्थ- संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों में विधिपूर्वक भेद करना व्यवहारनय है। जैसे सत् के दो भेद हैं-द्रव्य और गुण। द्रव्य के दो भेद हैं-जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य। घट के दो भेद हैं-पार्थिव (मिट्टी का) और अपार्थिव (मिट्टी से भिन्न धातुओं से निर्मित)।

ऋजुसूत्रः स विज्ञेयो येन पर्यायमात्रकम्।
वर्तमानैकसमयविषयं परिगृह्यते॥४७॥

अर्थ- जिसके द्वारा वर्तमान एक समय की पर्याय ग्रहण की जावे उसे ऋजु-सूत्रनय कहते हैं।

लिङ्गसाधनसंख्यानां कालोपग्रहयोस्तथा।
व्यभिचारनिवृत्तिः स्याद्यतः शब्दनयो हि सः॥४८॥

अर्थ- जिससे लिङ्ग, साधन, संख्या, काल और उपग्रह के व्यभिचार की निवृत्ति होती है वह शब्दनय है। **लिङ्ग-व्यभिचार-** जैसे 'पुष्यः तारका और नक्षत्रम्।' ये भिन्न-भिन्न लिङ्ग के शब्द हैं, इनका मिलाकर प्रयोग करना लिङ्ग-व्यभिचार है। **साधन व्यभिचार-** जैसे, 'सेना पर्वतमाधिवसति' सेना पर्वत पर है, यहाँ अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति होनी चाहिये, पर 'अधि' उपसर्ग पूर्वक वसधातु का प्रयोग होने से द्वितीया विभक्ति का

प्रयोग किया गया है। **संख्या-व्यभिचार-** जैसे, 'जलं, आपः, वर्षाः ऋतुः, आम्राः वनम्, वरणाः नगरम्'। यहाँ एकवचनान्त और बहुवचनान्त शब्दों का विशेषण विशेषरूप से प्रयोग किया गया है। **कालव्यभिचार-** जैसे, 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता' इसका पुत्र विश्वदृश्वा होगा। जिसने विश्व को देख लिया है वह विश्वदृश्वा कहलाता है यहाँ 'विश्वदृश्वा' इस भूतकालिक कर्ता का 'जनिता' इस भविष्यत्कालिक क्रिया के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है। जैसे-'संतिष्ठते, प्रतिष्ठते, विरमति, उपरमति आदि' यहाँ परस्मैपदी 'स्था' धातु का 'सम्' और 'प्र' उपसर्ग के कारण आत्मनेपद में प्रयोग हुआ है तथा 'रम' इस आत्मनेपदी धातु का 'वि' और 'उप' उपसर्ग के कारण परस्मैपद में प्रयोग हुआ है। लोक में यद्यपि ऐसे प्रयोग होते हैं तथापि इस प्रकार के व्यवहार को शब्दनय अनुचित मानता है।

ज्ञेयः समभिरूढोऽसौ शब्दो यद्विषयः स हि।
एकस्मिन्नभिरूढोऽर्थे नानार्थान् समतीत्य यः॥४९॥

अर्थ- जहाँ शब्द नाना अर्थों का उल्लङ्घन कर किसी एक अर्थ में रूढ होता है उसे समभिरूढनय जानना चाहिये। जैसे 'गौः' यहाँ गो शब्द, वाणी आदि अर्थों को गौणकर गाय अर्थ में रूढ हो गया है।

शब्दो येनात्मनाभूतस्तेनैवाध्यवसाययेत्।
यो नयो मुनयो मान्यास्तमेवंभूतमभ्यधुः॥५०॥

अर्थ- शब्द जिस रूप में प्रचलित है उसका उसी रूप में जो नय निश्चय कराता है माननीय मुनि उसे एवम्भूतनय कहते हैं। जैसे

इन्द्र शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ 'इन्दतीति इन्द्र' ऐश्वर्य का अनुभव करनेवाला है इसलिये यह नय इन्द्र को उसी समय इन्द्र कहेगा जब कि वह ऐश्वर्य का अनुभव कर रहा होगा, अभिषेक या पूजन करते समय इन्द्र को इन्द्र नहीं कहेगा। तात्पर्य यह है कि समभिरूढनय शब्द के वाच्यार्थ को ग्रहण करता है और एवंभूतनय निरुक्त अर्थ को।

एते परस्परापेक्षाः सम्यग्ज्ञानस्य हेतवः।
निरपेक्षाः पुनः सन्तो मिथ्याज्ञानस्य हेतवः॥५१॥

अर्थ- ये नय यदि परस्पर सापेक्ष रहते हैं तो सम्यग्ज्ञान के हेतु होते हैं और निरपेक्ष रहते हैं तो मिथ्याज्ञान के हेतु होते हैं।

आर्याछन्द

निर्देशः स्वामित्वं साधनमधिकरणमपि च परिचिन्त्यम्।
स्थितिरथ विधानमिति षट् तत्त्वानामधिगमोपायाः॥५२॥

अर्थ- निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान तत्त्वों को जानने के ये छह उपाय हैं।

आर्याछन्द

अथ सत्संख्याक्षेत्र स्पर्शनकालान्तराणि भावश्च।
अल्पबहुत्वं चाष्टावित्यपरेऽप्यधिगमोपायाः॥५३॥

अर्थ- इसके अनन्तर सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोग भी तत्त्वोंके जाननेके उपाय हैं।

शालिनी छन्द

सम्यग्योगो मोक्षमार्गं पप्रित्सुर्न्यस्तां नामस्थापनाद्रव्यभावैः।
स्याद्वादस्थां प्राप्य तैस्तैरुपायैः प्राग्जानीयात्सप्ततत्त्वीं क्रमेण॥५४॥

अर्थ- मोक्षमार्ग को प्राप्त करने का इच्छुक मनुष्य, अपने मन-वचन-काय-रूप योगों को ठीक कर नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप के द्वारा व्यवहृत तथा स्याद्वाद सिद्धान्त में निरूपित सात तत्त्वों के समूह को पूर्वोक्त उपायों द्वारा सबसे पहले यथाक्रम से जाने।

इस प्रकार अमृतचन्द्राचार्यद्वारा विरचित तत्त्वार्थसार में सात तत्त्वों का वर्णन करनेवाला पीठिकाबन्ध नाम का प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।

द्वितीयाधिकार

जीवतत्त्वनिरूपण

मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य

अनन्तानन्तजीवानामेकैकस्य प्ररूपकान्।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना जीवतत्त्वं प्ररूप्यते॥१॥

अर्थ- अनन्तानन्त जीवों में से एक-एक जीव का निरूपण करनेवाले जिनेन्द्र भगवान को शिर से प्रणाम कर जीवतत्त्व का निरूपण किया जाता है।

अन्यासाधारणा भावाः पञ्चोपशमिकादयः।
स्वं तत्त्वं यस्य तत्त्वस्य जीवः स व्यपदिश्यते॥२॥

अर्थ- जीव को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाने वाले औपशमिक आदि पांच भाव जिस तत्त्व के स्वतत्त्व हैं वह जीव कहा जाता है।

स्यादौपशमिको भावः क्षायोपशमिकस्तथा।
क्षायिकश्चाप्यौदयिकस्तथान्यः पारिणामिकः॥३॥

अर्थ- औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक ये जीव के स्वतत्त्व हैं।

भेदौ सम्यक्त्व चारित्रे द्वावौपशमिकस्य हि।

अर्थ- औपशमिकभाव के दो भेद हैं-१ औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र।

अज्ञानत्रितयं ज्ञानचतुष्कं पञ्चलब्धयः॥४॥
देशसंयमसम्यक्त्वे चारित्रं दर्शनत्रयम्।
क्षायोपशमिकस्यैते भेदा अष्टादशोदिताः॥५॥

अर्थ- कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ; देशसंयम, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिकचारित्र तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन सब मिलाकर क्षायोपशमिकभाव के अठारह भेद कहे गये हैं।

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रवीर्यदानानि दर्शनम्।
भोगोपभोगौ लाभश्च क्षायिकस्य नवोदिताः॥६॥

अर्थ- क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान), क्षायिकचारित्र, क्षायिक-वीर्य, क्षायिकदान, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकलाभ और क्षायिकदर्शन (केवलदर्शन) ये नौ क्षायिकभाव कहे गये हैं।

चतस्रो गतयो लेश्याः षट् कषायचतुष्टयम्।
वेदा मिथ्यात्वमज्ञानमसिद्धोऽसंयतस्तथा।
इत्यौदयिकभावस्य स्युर्भेदा एकविंशतिः॥७॥

(षट्पदम्)

अर्थ- चार गतियाँ, छह लेश्याएँ, चार कषाय, तीन वेद, मिथ्यात्व, अज्ञान, असिद्धत्व और असंयतत्त्व ये औदयिकभाव के इक्कीस भेद हैं।

जीवत्वं चापि भव्यत्वमभव्यत्वं तथैव च।
पारिणामिकभावस्य भेदत्रितयमिष्यते॥८॥

अर्थ- पारिणामिकभावके जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन भेद माने जाते हैं।

अनन्यभूतस्तस्य स्यादुपयोगो हि लक्षणम्।
जीवोऽभिव्यज्यते तस्मादवष्टब्धोऽपि कर्मभिः॥९॥

अर्थ- तादात्म्यभाव को प्राप्त उपयोग ही जीव का लक्षण है। आठ कर्मों से आच्छादित होने पर भी जीव उस उपयोग के द्वारा प्रकट होता है-अनुभव में आता है।

साकारश्च निराकारो भवति द्विविधश्च सः।
साकारं हि भवेज्ज्ञानं निराकारं तु दर्शनम्॥१०॥
कृत्वा विशेषं गृह्णाति वस्तुजातं यतस्ततः।
साकार मिष्यते ज्ञानं ज्ञानयाथात्म्यवेदिभिः॥११॥
यद्विशेषमकृत्वैव गृह्णीते वस्तुमात्रकम्।
निराकारं ततः प्रोक्तं दर्शनं विश्वदर्शिभिः॥१२॥
ज्ञानमष्टविधं ज्ञेयं मतिज्ञानादिभेदतः।
चक्षुरादिविकल्पाच्च दर्शनं स्याच्चतुर्विधम्॥१३॥

अर्थ- वह उपयोग साकार (सविकल्पक) और निराकार (निर्विकल्पक) के भेद से दो प्रकार का है। उनमें ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार। क्योंकि ज्ञान वस्तुसमूह को 'यह घट है, यह पट है' इत्यादि रूप से विशेष को करके जानता है इसलिये ज्ञान की यथार्थता को जाननेवाले मुनियों के द्वारा ज्ञान

साकार-सविकल्प माना जाता है और दर्शन विशेषता को न कर सामान्यरूप से वस्तु को ग्रहण करता है इसलिये सर्वदर्शी भगवान ने दर्शन को निराकार-निर्विकल्प कहा है। मतिज्ञानादि पांच सम्यग्ज्ञान और कुमति आदि तीन मिथ्याज्ञान के भेद से ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का और चक्षुदर्शन आदि के भेद से दर्शनोपयोग चार प्रकार का जानना चाहिये।

संसारिणश्च मुक्ताश्च जीवास्तु द्विविधाः स्मृताः।
लक्षणं तत्र मुक्तानामुत्तरत्र प्रचक्ष्यते॥१४॥
सांप्रतं तु प्ररूप्यन्ते जीवाः संसारवर्तिनः।
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणादिषु तत्त्वतः॥१५॥

अर्थ- संसारी और मुक्त के भेद से जीव दो प्रकार के स्मरण किये गये हैं। उनमें मुक्त जीवों का लक्षण आगे कहा जावेगा। इस समय जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणा आदि में विभाजित संसारी जीवों का यथार्थ वर्णन किया जाता है।

मिथ्यादृक्सासनो मिश्रोऽसंयतो देशसंयतः।
प्रमत्त इतरोऽपूर्वानिवृत्तिकरणौ तथा॥१६॥
सूक्ष्मोपशान्तसंक्षीणकषाया योग्ययोगिनौ।
गुणस्थानविकल्पाः स्युरिति सर्वे चतुर्दश॥१७॥

अर्थ- मिथ्यादृष्टि, सासन-सासादन, मिश्र, असंयत, देशसंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मकषाय, उपशान्तकषाय, क्षीण-कषाय, योगी-सयोगकेवली और अयोगी-अयोगकेवली ये सब मिलाकर चौदह गुणस्थानों के विकल्प हैं।

मिथ्यादृष्टिर्भवेज्जीवो मिथ्यादर्शनकर्मणः।
उदयेन पदार्थानामश्रद्धानं हि यत्कृतम्॥१८॥

अर्थ- मिथ्यात्वकर्म के उदय से जिसे जीवादि पदार्थों का अश्रद्धान रहता है वह मिथ्यादृष्टि जीव होता है।

मिथ्यात्वस्योदयाभावे जीवोऽनन्तानुबन्धिनाम्।
उदयेनास्तसम्यक्त्वः स्मृतः सासादनाभिधः॥१९॥

अर्थ- मिथ्यात्वप्रकृति के उदय का अभाव रहते हुए अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ में से किसी एक प्रकृति का उदय आने से जिसका सम्यक्त्व नष्ट हो गया है वह सासादन गुणस्थानवर्ती जीव कहा गया है।

सम्यग्मिथ्यात्वसंज्ञायाः प्रकृतेरुदयाद्भवेत्।
मिश्रभावतया सम्यग्मिथ्यादृष्टिः शरीरवान्॥२०॥

अर्थ- सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से मिश्ररूप परिणाम होने के कारण जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा मिश्रगुणस्थानवर्ती होता है।

वृत्तमोहस्य पाकेन जनिताविरतिर्भवेत्।
जीवः सम्यक्त्वसंयुक्तः सम्यग्दृष्टिरसंयतः॥२१॥

अर्थ- चारित्रमोह के उदय से जिसके अविरति-असंयमदशा उत्पन्न हुई है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव असंयत सम्यग्दृष्टि होता है।

पाकक्षयात्कषायाणामप्रत्याख्यानरोधिनाम्।
विरताविरतो जीवः संयतासंयतः स्मृतः॥२२॥

अर्थ- अप्रत्याख्यानावरणकषायों के क्षयोपशम से जो जीव विरत

तथा अविरतदशा को प्राप्त है वह संयतासंयत अथवा देशसंयत गुणस्थानवर्ती माना गया है।

प्रमत्तसंयतो हि स्यात्प्रत्याख्याननिरोधिनाम्।
उदयक्षयतः प्राप्ता संयमर्द्धिः प्रमादवान्॥२३॥

अर्थ- प्रत्याख्यानावरणकषाय के क्षयोपशय से जो संयमरूप संपत्ति को प्राप्त होकर भी प्रमाद से युक्त रहता है वह प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती कहा जाता है।

संयतो ह्यप्रमत्तः स्यात् पूर्ववत्प्राप्तसंयमः।
प्रमादविरहाद्वृत्तेर्वृत्तिमस्खलितां दधत्॥२४॥

अर्थ- जो छठवें गुणस्थान की तरह संयम को प्राप्त हुआ है तथा प्रमाद का अभाव हो जाने से अस्खलित-निर्दोष वृत्ति को धारण कर रहा है वह अप्रमत्त-संयत कहलाता है।

अपूर्वकरणं कुर्वन्नपूर्वकरणो यतिः।
शमकः क्षपकश्चैव स भवत्युपचारतः॥२५॥

अर्थ- अपूर्वकरण-नये-नये परिणामों को करनेवाला मुनि अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती कहलाता है। यह मुनि उपचार से शमक और क्षपक दोनों प्रकार का होता है।

कर्मणां स्थूलभावेन शमकः क्षपकस्तथा।
अनिवृत्तिरनिवृत्तिः परिणामवशाद्भवेत्॥२६॥

अर्थ- जो कर्मों का स्थूलरूप से उपशम अथवा क्षय करनेवाला है तथा परिणामों की अनिवृत्ति-विभिन्नता से रहित है वह अनिवृत्तिकरण गुणस्थान-वाला है।

सूक्ष्मत्वेन कषायाणां शमनात्क्षपणात्तथा।
स्यात्सूक्ष्मसांपरायो हि सूक्ष्मलोभोदयानुगः॥२७॥

अर्थ- जो कषायों के उपशमन अथवा क्षपण करने के कारण उनकी सूक्ष्मता से सहित है वह सूक्ष्मसाम्पराय नामक गुणस्थानवर्ती कहलाता है। इस गुणस्थान में रहने वाला जीव सिर्फ संज्वलनलोभ के सूक्ष्म उदय से युक्त होता है।

उपशान्तकषायः स्यात्सर्वमोहोपशान्तितः।
भवेत्क्षीणकषायोऽपि मोहस्यात्यन्तसंक्षयात्॥२८॥

अर्थ- जहाँ सम्पूर्ण मोहनीयकर्म का उपशम हो जाता है वह उपशान्तकषाय गुणस्थान है और जहाँ सम्पूर्ण मोहनीयकर्म का क्षय हो जाता है वह क्षीणकषाय गुणस्थान कहलाता है।

उत्पन्न केवलज्ञानो घातिकर्मोदयक्षयात्।
सयोगश्चाप्ययोगश्च स्यातां केवलिनावुभौ॥२९॥

अर्थ- घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से जिसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है किन्तु योग विद्यमान है वह सयोगकेवलीगुणस्थानवर्ती कहलाता है और जिसके योग का अभाव हो जाता है वह अयोगकेवलीगुणस्थानवर्ती कहा जाता है।

एकाक्षाः वादराः सूक्ष्मा द्वयक्षाद्या विकलास्त्रयः।
संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्चैव द्विधा पञ्चेन्द्रियास्तथा॥३०॥
पर्याप्ताः सर्व एवैते सर्वेऽपर्याप्तकास्तथा।
जीवस्थानविकल्पाः स्युरिति सर्वे चतुर्दश॥३१॥

अर्थ- एकेन्द्रियों के दो भेद बादर और सूक्ष्म, द्वीन्द्रिय को आदि लेकर तीन विकल और संज्ञी-असंज्ञी के भेद से दो प्रकार के पञ्चेन्द्रिय ये सात प्रकार के सभी जीव पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनों प्रकार के होते हैं। इसलिये सब मिलाकर जीवस्थान के चौदह विकल्प होते हैं। इन्हें चौदह जीवसमास भी कहते हैं।

आहारदेहकरणप्राणापानविभेदतः।
वचोमनोविभेदाच्च सन्ति पर्याप्तयो हि षट्॥३२॥
एकाक्षेषु चतस्रः स्युः पूर्वाः शेषेषु पञ्च ताः।
सर्वा अपि भवन्त्येताः संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु तत्॥३३॥

अर्थ- आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा और मन के भेद से पर्याप्तियाँ छह हैं। इनमें एकेन्द्रियों के प्रारम्भ की चार, द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी-पञ्चेन्द्रियों तक प्रारम्भ की पाँच और संज्ञी पञ्चेन्द्रियों के सभी पर्याप्तियाँ होती हैं।

पञ्चेन्द्रियाणि वाक्कायमानसानां बलानि च।
प्राणापानौ तथायुश्च प्राणाः स्युः प्राणिनां दश॥३४॥
कायाक्षायूंषि सर्वेषु पर्याप्तेष्वान इष्यते।
वाग्द्वयक्षादिषु पूर्णेषु मनः पर्याप्त संज्ञिषु॥३५॥

अर्थ- स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियाँ, वचनबल, कायबल, मनोबल, श्वासोच्छवास और आयु, जीवों के ये दश प्राण होते हैं। इनमें कायबल, इन्द्रियाँ तथा आयु प्राण सभी जीवों के होते हैं, श्वासोच्छवास पर्याप्तक जीवों के ही होता है, वचनबल द्वीन्द्रियादिक पर्याप्तक जीवों के होता है और मनोबल संज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक के ही होता है।

आहारस्य भयस्यापि संज्ञा स्यान्मैथुनस्य च।
परिग्रहस्य चेत्येवं भवेत्संज्ञा चतुर्विधा॥३६॥

अर्थ- आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा के भेद से संज्ञा चार प्रकार की होती है।

गत्यक्ष काय योगेषु वेद क्रोधादिवित्तिषु।
वृत्तदर्शनलेश्यासु भव्यसम्यक्त्वसंज्ञिषु।
आहारके च जीवानां मार्गणाः स्युश्चतुर्दश॥३७॥

(षट्पदम्)

अर्थ- १ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ संयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्य, १२ सम्यक्त्व, १३ संज्ञी और १४ आहारक जीवों की ये चौदह मार्गणाएँ होती हैं।

गतिर्भवति जीवानां गतिकर्मविपाकजा।
श्वभ्रतिर्यग्नरामर्त्यगतिभेदाच्चतुर्विधा॥३८॥

अर्थ- गति नामकर्म के उदय से जीव की जो अवस्था होती है उसे गति कहते हैं। इसके चार भेद हैं-१ नरकगति, २ तिर्यञ्चगति, ३ मनुष्यगति और ४ देवगति। इनके लक्षण प्रसिद्ध हैं।

इन्द्रियं लिङ्गमिन्द्रस्य तच्च पञ्चविधं भवेत्।
प्रत्येकं तद् द्विधा द्रव्यभावेन्द्रिय विकल्पतः॥३९॥

अर्थ- इन्द्र अर्थात् आत्मा का जो लिङ्ग है उसे इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के भेद से पाँच भेद हैं। इन पाँचों इन्द्रियों में प्रत्येक के द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के भेद से दो-दो भेद हैं।

निर्वृत्तिश्चोपकरणं द्रव्येन्द्रियमुदाहृतम्।
बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वैविध्यमनयोरपि॥४०॥

अर्थ- निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहा गया है। निर्वृत्ति और उपकरण दोनों के बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो-दो भेद होते हैं।

नेत्रादीन्द्रियसंस्थानावस्थितानां हि वर्तनम्।
विशुद्धात्मप्रदेशानां तत्र निर्वृत्तिरान्तरा॥४१॥

अर्थ- नेत्रादि इन्द्रियों के आकार में अवस्थित विशुद्ध आत्मा के प्रदेशों का जो इन्द्रियाकार परिणमन है उसे आभ्यन्तरनिर्वृत्ति कहते हैं।

तेष्वेवात्मप्रदेशेषु करणव्यपदेशिषु।
नामकर्मकृतावस्थः पुद्गलप्रचयोऽपरा॥४२॥

अर्थ- इन्द्रियव्यपदेश को प्राप्त हुए उन्हीं आत्मप्रदेशों पर नामकर्म के उदय से इन्द्रियाकार परिणत जो पुद्गल का प्रचय है उसे बाह्यनिर्वृत्ति कहते हैं।

आभ्यन्तरं भवेत्कृष्णशुक्ल मण्डलकादिकम्।
बाह्योपकरणं त्वक्षिपक्ष्मपत्रद्धयादिकम्॥४३॥

अर्थ- काला तथा सफेद गटेना आदि आभ्यन्तर उपकरण है और नेत्रों की बरूनी तथा दोनों पलक आदि बाह्य उपकरण हैं।

लब्धिस्तथोपयोगश्च भावेन्द्रियमुदाहृतम्।
सा लब्धिर्बोधरोधस्य यः क्षयोपशमो भवेत्॥४४॥

अर्थ- लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहा है। ज्ञानावरणकर्म का जो क्षयोपशम है वह लब्धि कहलाती है।

स द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते यतः।
कर्मणो ज्ञानरोधस्य क्षयोपशमहेतुकः॥४५॥
आत्मनः परिणामो य उपयोगः स कथ्यते।
ज्ञानदर्शनभेदेन द्विधा द्वादशधा पुनः॥४६॥

अर्थ- जिसके सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के प्रति व्यापृत होता है ऐसा ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाला आत्मा का परिणाम उपयोग कहलाता है। ज्ञान और दर्शन के भेद से मूल में उपयोग दो प्रकार है फिर ज्ञानोपयोग के आठ और दर्शनोपयोग के चार भेद मिलाकर बारह प्रकार का होता है।

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमतः परम्।
इतीन्द्रियाणां पञ्चानां संज्ञानुक्रमनिर्णयः॥४७॥

अर्थ- स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियों के नाम तथा उनका क्रम है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं-

स्पर्शो रसस्तथा गन्धो वर्णः शब्दो यथाक्रमम्।
विज्ञेया विषयास्तेषां मनसस्तु मतं श्रुतम्॥४८॥

अर्थ- स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये क्रम से स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषय जानना चाहिये। मन का विषय श्रुत-अक्षरात्मक श्रुत है।

रूपं पश्यत्यसंस्पृष्टं स्पृष्टं शब्दं शृणोति तु।
बद्धं स्पृष्टं च जानाति स्पर्शं गन्धं तथा रसम्॥४९॥

अर्थ- चक्षु असंस्पृष्ट-दूरवर्ती रूप को देखती है। कान स्पृष्ट-अपने से छुए हुए शब्द को सुनता है। स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय और घ्राण इन्द्रिय, बद्ध-अपने से संबंध को प्राप्त तथा स्पृष्ट-छुए हुए अपने-अपने विषयभूत स्पर्श, रस और गन्ध को जानती हैं।

यवनालमसूरातिमुक्तेन्द्वर्द्धसमाः क्रमात्।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनं नैकसंस्थिति॥५०॥

अर्थ- कर्ण इन्द्रिय जौकी नली के समान, चक्षु इन्द्रिय मसूर के समान, घ्राण-इन्द्रिय अतिमुक्तक तिल के फूल के समान, जिह्वा इन्द्रिय अर्ध चन्द्र के समान और स्पर्शन इन्द्रिय अनेक आकारवाली है।

स्थावराणां भवत्येकमेकैकमभिवर्धयेत्।
शम्बूककुन्थुमधुपमर्त्यादीनां ततः क्रमात्॥५१॥

अर्थ- स्थावर जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है फिर शाम्बूक-क्षुद्र शङ्ख, कुन्थु-कानखजूरा, भ्रमर और मनुष्यादिक के क्रम से एक-एक इन्द्रिय अधिक होती जाती है।

स्थावराः स्युः पृथिव्यापस्तेजो वायुर्वनस्पतिः।
स्वैः स्वैर्भेदैः समा ह्येते सर्व एकेन्द्रियाः स्मृताः॥५२॥

अर्थ- पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँच स्थावर हैं अपने-अपने भेदों से सहित हैं। ये सभी स्थावर एकेन्द्रिय माने गये हैं।

शम्बूकः शङ्खशुक्ती वा गण्डूपदकपर्दकाः।
कुक्षिक्रम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः॥५३॥

अर्थ- शम्बूक, शङ्ख, शुक्ति-सीप, गिंडोले, कौंड़ी तथा पेटके कीड़े आदि ये दो इन्द्रिय जीव माने गये हैं।

कुन्थुः पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपकः।
घुणमत्कुण यूकाद्या स्त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः॥५४॥

अर्थ- कुन्थु, चिंउटी, कुम्भी (?) बिच्छू, वीरबहूटी, घुनका कीड़ा, खटमल, चीलर-जुँवा आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं।

मधुपः कीटको दंशमशकौ मक्षिकास्तथा।
वरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः॥५५॥

अर्थ- भौंरा, उड़नेवाले कीड़े, डांस, मच्छर, मक्खी, वर्र तथा टिड्डी आदि चार इन्द्रिय जीव हैं।

पञ्चेन्द्रियाश्च मर्त्याः स्युर्नारकास्त्रिदिवौकसः।
तिर्यञ्चोऽप्युरगा भोगिपरिसर्पचतुष्पदाः॥५६॥

अर्थ- मनुष्य, नारकी, देव, तिर्यञ्च, साँप, फणावाले नाग, सरकनेवाले अजगर आदि तथा चौपाये पाँच इन्द्रिय जीव हैं।

मसूराम्बुपृषत्सूचीकलापध्वजसन्निभाः।
धराप्तेजो मरुत्काया नानाकारास्तरुत्रसाः॥५७॥

अर्थ- पृथिवी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों का आकार क्रम से मसूर, पानी की बूँद, खड़ी सुइयों का समूह तथा ध्वजा के समान है। वनस्पतिकायिक और त्रस जीव अनेक आकार के होते हैं।

मृत्तिका वालुका चैव शर्करा चोपलः शिला।
लवणोऽयस्तथा ताम्रं त्रपुः सीसकमेव च॥५८॥

रौप्यं सुवर्णं वज्रं च हरितालं च हिङ्गुलम्।
मनःशिला तथा तुत्थमज्जनं सप्रवालकम्॥५९॥
क्रिरोलकाभ्रके चैव मणिभेदाश्च वादराः।
गोमेदो रुचकाङ्कश्च स्फटिको लोहितप्रभः॥६०॥
वैडूर्यं चन्द्रकान्तश्च जलकान्तो रविप्रभः।
गैरिकश्चन्दनश्चैव वर्चूरो रुचकस्तथा॥६१॥
मोठो मसारगल्लश्च सर्व एते प्रदर्शिताः।
षट्त्रिंशत्पृथिवीभेदा भगवद्भिर्जिनेश्वरैः॥६२॥

अर्थ- १ मिट्टी, २ रेत, ३ चुनकंकरी, ४ पत्थर, ५ शिलाएँ, ६ नमक, ७ लोहा, ८ ताँबा, ९ रांगा, १० सीसा, ११ चाँदी, १२ सोना, १३ हीरा, १४ हरताल १५ ईंगुर, १६ मैनसिल, १७ तूतिया, १८ सुरमा, १९ मूँगा, २० क्रिरोलक (?), २१ भोड़ल, बड़ी-बड़ी मणियों के खण्ड, २२ गोमेद, २३ रुचकाङ्क, २४ स्फटिक, २५ पद्मराग, २६ वैडूर्य २७ चन्द्रकान्त, २८ जल-कान्त, २९ सूर्यकान्त, ३० गैरिक, ३१ चन्दन, ३२ वर्चूर, ३३ रुचक, ३४ मोठ, ३५ मसार और ३६ गल्ल नामक मणि ये सब पृथिवीकायिक के छत्तीस भेद जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं।

अवश्यायो हिमबिन्दुस्तथा शुद्धघनोदके।
शीतकाद्याश्च विज्ञेया जीवाः सलिलकायिकाः॥६३॥

अर्थ- ओस, बर्फ के कण, शुद्धोदक-चन्द्रकान्तमणि से निकला पानी, मेघ से तत्काल वर्षा हुआ पानी तथा कुहरा आदि जलकायिक जीव जानने के योग्य हैं।

ज्वालाङ्गारास्तथार्चिश्च मुर्मुरः शुद्ध एव च।

अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलनकायिकाः॥६४॥

अर्थ- ज्वालाएँ, अंगार, अर्चि-अग्नि की किरण, मुर्मुर-अग्निकण (भस्म भीतर छिपे हुए अग्नि के छोटे-छोटे कण) और शुद्ध अग्नि-सूर्यकान्तमणि उत्पन्न अग्नि ये सब अग्निकायिक जीव जानने के योग्य हैं।

महान् घनतनुश्चैव गुञ्जामण्डलिरुत्कलिः।
वातश्चेत्यादयो ज्ञेया जीवाः पवनकायिकाः॥६५॥

अर्थ- वृक्ष वगैरह को उखाड़ देनेवाली महान् वायु अर्थात् आंधी, घनवात, तनुवात, गुञ्जा-गूँजनेवाली वायु, मण्डलि-गोलाकार वायु, उत्कलि-तिरछी बहनेवाली वायु और वात-सामान्य वायु ये सब पवनकायिक जीव जानने के योग्य हैं।

मूलाग्रपर्वकन्दोत्थाः स्कन्धबीजरुहास्तथा।
संमूर्च्छिनश्च हरिताः प्रत्येकानन्तकायिकाः॥६६॥

अर्थ- मूलबीज-मूल से उत्पन्न होने वाले अदरख, हल्दी आदि, अग्रबीज-कलम से उत्पन्न होने वाले गुलाब आदि, पर्वबीज-पर्व से उत्पन्न होने वाले गन्ना आदि, कन्दबीज-कन्द से उत्पन्न होने वाले सूरण आदि, स्कन्धबीज-स्कन्ध से उत्पन्न होनेवाले ढाक आदि, बीजरूह-बीज से उत्पन्न होनेवाले गेहूँ, चना आदि तथा संमूर्च्छिन्-अपने आप उत्पन्न होनेवाली घास आदि वनस्पतिकाय प्रत्येक तथा साधारण दोनों प्रकार के होते हैं।

सति वीर्यान्तरायस्य क्षयोपशमसम्भवे।
योगो ह्यात्मप्रदेशानां परिस्पन्दो निगद्यते॥६७॥

अर्थ- वीर्यान्तरायकर्म का क्षयोपशम होनेपर आत्मप्रदेशों का हलन चलन होना योग कहलाता है।

चत्वारो हि मनोयोगा वाग्योगानां चतुष्टयम्।
काययोगाश्च सप्तैव योगाः पञ्चदशोदिताः॥६८॥

अर्थ- चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग सब मिलाकर पन्द्रह योग कहे गये हैं।

मनोयोगो भवेत्सत्यो मृषा सत्यमृषा तथा।
तथाऽसत्यमृषा चेति मनोयोगश्चतुर्विधः॥६९॥

अर्थ- सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग और अनुभय मनोयोग ये मनोयोगके चार भेद हैं।

वचोयोगो भवेत्सत्यो मृषा सत्यमृषा तथा।
तथाऽसत्यमृषा चेति वचोयोगश्चतुर्विधः॥७०॥

अर्थ- सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग और अनुभय वचनयोग ये वचनयोग के चार भेद हैं।

औदारिको वैक्रियिकः कायश्चाहारकश्च ते।
मिश्राश्च कार्मणं चैव काययोगोऽपि सप्तधा॥७१॥

अर्थ- औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कार्मण इस तरह काययोग भी सात प्रकार का होता है।

औदारिको वैक्रियिकस्तथाहारक एव च।
तैजसः कार्मणश्चैवं सूक्ष्माः सन्ति यथोत्तरम्॥७२॥

असंख्येयगुणौ स्यातामाद्यादन्यौ प्रदेशतः।
यथोत्तरं तथानन्तगुणौ तैजसकार्मणौ॥७३॥

अर्थ- औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तेजस और कार्मण ये पाँच शरीर आगे-आगे सूक्ष्म-सूक्ष्म हैं अर्थात् औदारिक शरीर की अपेक्षा वैक्रियिक, वैक्रियिक की अपेक्षा आहारक, आहारक की अपेक्षा तैजस और तैजस की अपेक्षा कार्मणशरीर सूक्ष्म है। प्रदेशों की अपेक्षा औदारिकशरीर से लेकर वैक्रियिक और आहारक असंख्यातगुणे हैं और तैजस तथा कार्मण अनन्तगुणे हैं अर्थात् औदारिकशरीर के जितने प्रदेश हैं उनसे असंख्यातगुणे वैक्रियिक के हैं, वैक्रियिक-के जितने प्रदेश हैं उनसे असंख्यातगुणे आहारक के हैं, आहारक से अनन्तगुणे तेजस के और उनसे अनन्तगुणे कार्मणशरीर के हैं।

उभौ निरुपभोगौ तौ प्रतिघातविवर्जितौ।
सर्वस्यानादिसम्बन्धौ स्यातां तैजसकार्मणौ॥७४॥
तौ भवेतां क्वचिच्छुद्धौ क्वचिदौदारिकाधिकौ।
क्वचिद्वैक्रियिकोपेतौ तृतीयाद्ययुतौ क्वचित्॥७५॥

अर्थ- तेजस और कार्मणशरीर उपभोग-इन्द्रियों द्वारा विषयग्रहण से रहित हैं, प्रतिघात-रुकावट से रहित हैं और सामान्य की अपेक्षा सब जीवों के साथ अनादि सम्बन्ध रखनेवाले हैं। तैजस और कार्मण ये दो शरीर कहीं तो शुद्ध-अर्थात् अन्य शरीरों से रहित होते हैं, कहीं औदारिक शरीर से अधिक होते हैं, कहीं वैक्रियिकशरीर से अधिक होते हैं और कहीं आहारकशरीर से अधिक होते हैं।

औदारिकशरीरस्थं लब्धिप्रत्ययमिष्यते।

अन्यादृक् तैजसं साधोर्वपुर्वैक्रियिकं तथा॥७६॥

अर्थ- औदारिकशरीर से युक्त किसी मुनि के लब्धिप्रत्यय ऋद्धिविशेष उत्पन्न होनेवाला एक अन्य प्रकार का तैजस तथा वैक्रियिकशरीर माना जाता है।

औदारिकं शरीरं स्याद्गर्भसम्मूर्च्छनोद्भवम्।
तथा वैक्रियिकाख्यं तु जानीयादौपपादिकम्॥७७॥

अर्थ- औदारिकशरीर गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होता है तथा वैक्रियिकशरीर उपपाद जन्म से उत्पन्न होता है। अथवा गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म से जिसकी उत्पत्ति होती है उसे औदारिक शरीर कहते हैं तथा उपपाद जन्म से जिसकी उत्पत्ति होती है उसे वैक्रियिकशरीर कहते हैं।

अव्याघाती शुभः शुद्धः प्राप्तर्द्धेयः प्रजायते।
संयतस्य प्रमत्तस्य स खल्वाहारकः स्मृतः॥७८॥

अर्थ- ऋद्धिधारक प्रमत्तसंयत मुनि के जो व्याघात से रहित, शुभ तथा शुद्ध पुतला निकलता है वह आहारकशरीर माना गया है।

भाववेदस्त्रिभेदः स्यान्नोकषायविपाकजः।
नामोदयनिमित्तस्तु द्रव्यवेदः स च त्रिधा॥७९॥
द्रव्यान्नपुंसकानि स्युः श्वाभ्राः सम्मूर्च्छिनस्तथा
पल्यायुषो न देवाश्च त्रिवेदा इतरे पुनः॥८०॥
उत्पादः खलु देवीनामैशानं यावदिष्यते।
गमनं त्वच्युतं यावत् पुंवेदा हि ततः परम्॥८१॥

अर्थ- नोकषाय के उदय से उत्पन्न होनेवाला भाववेद स्त्री पुरुष और नपुंसक के भेद से तीन प्रकार का है। इसी प्रकार नामकर्म के उदय से होनेवाला द्रव्यवेद भी तीन प्रकार का है। नारकी तथा सम्मूर्छन जन्म से उत्पन्न होनेवाले जीव द्रव्यवेद की अपेक्षा नपुंसक होते हैं। भोगभूमिज मनुष्य तिर्यञ्च तथा देव नपुंसक नहीं होते अर्थात् स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी ही होते हैं। शेष मनुष्य और तिर्यञ्च तीनों वेदवाले होते हैं अर्थात् तीन वेदों में से किसी एक वेद के धारक होते हैं। देवियों का उत्पाद ऐशान स्वर्ग तक होता है परन्तु उनका गमन अच्युत स्वर्ग तक होता है। इस दृष्टि से अच्युत स्वर्ग तक पुरुषवेद और स्त्रीवेद ये दो वेद पाये जाते हैं। उसके आगे सब देव पुरुषवेदी ही होते हैं।

चारित्रपरिणामानां कषायः कषणान्मतः।
क्रोधी मानस्तथा माया लोभश्चेति चतुर्विधः॥८२॥

अर्थ- जो चारित्ररूप परिणामों को कषे घाते उसे कषाय कहते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार प्रकार की हैं।

तत्त्वार्थस्यावबोधो हि ज्ञानं पञ्चविधं भवेत्।
मिथ्यात्वपाककलुषमज्ञानं त्रिविधं पुनः॥८३॥

अर्थ- जीवादि तत्त्वों का यथार्थ बोध होना ज्ञान कहलाता है। यह मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल के भेद से पाँच प्रकार का होता है। जो ज्ञान मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से कलुषित रहता है उसे अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान कहते हैं। इसके मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभङ्ग के भेद से तीन भेद होते हैं। इस तरह कुल मिलाकर ज्ञानमार्गणा के आठ भेद हैं।

संयमः खलु चारित्र मोहस्योपशमादिभिः।
प्राणस्य परिहारः स्यात् पञ्चधा स च वक्ष्यते॥८४॥
विरताविरतत्त्वेन संयमासंयमःस्मृतः।
प्राणिघाताक्षविषयभावेन स्यादसंयमः॥८५॥

अर्थ- चारित्रमोहनीयकर्म के उपशम आदि के द्वारा प्राणघात का परित्याग होता है वह निश्चय से संयम कहलाता है। यह सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात के भेद से पाँच प्रकार का कहा जावेगा। एक ही साथ विरत और अविरत अवस्था होने से संयमासंयम होता है तथा प्राणिघात और इन्द्रियोंके विषयों में प्रवृत्ति होने से असंयम होता है।

दर्शनावरणस्य स्यात् क्षयोपशमसन्निधौ।
आलोचनं पदार्थानां दर्शनं तच्चतुर्विधम्॥८६॥
चक्षुर्दर्शनमेकं स्यादचक्षुर्दर्शनं तथा।
अवधिदर्शनं चैव तथा केवलदर्शनम्॥८७॥

अर्थ- दर्शनावरणकर्म का क्षयोपशम (और क्षय) होने पर जो पदार्थों का सामान्य अवलोकन होता है उसे दर्शन कहते हैं। यह चार प्रकार का है-चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

योगवृत्तिर्भवेल्लेश्या कषायोदयरञ्जिता।
भावतो द्रव्यतः कायनामोदयकृताङ्गरुक्॥८८॥
कृष्णा नीला च कापोता पीता पद्मा तथैव च।
शुक्ला चेति भवत्येषा द्विविधापि हि षड्विधा॥८९॥

अर्थ- भाव की अपेक्षा कषाय के उदय से रँगी हुई योगवृत्ति लेश्या कहलाती है और द्रव्य की अपेक्षा शरीर नामकर्म के उदय से निर्मित शरीर की कान्ति लेश्या कहलाती है। यह दोनों प्रकार की लेश्या कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल के भेद से छह प्रकार की होती है। कृष्णादि लेश्याओं के लक्षण पहले कहे जा चुके हैं।

भव्याभव्यविभेदेन द्विविधाः सन्ति जन्तवः।
भव्याः सिद्धत्वयोग्याः स्युर्विपरीतास्तथापरे॥९०॥

अर्थ- भव्य और अभव्य के भेद से जीव दो प्रकार के हैं। जो सिद्धपर्याय प्राप्त करने के योग्य हैं वे भव्य कहलाते हैं और जो इनसे विपरीत हैं वे अभव्य कहे जाते हैं।

सम्यक्त्वं खलु तत्त्वार्थश्रद्धानं तत्त्रिधा भवेत्।
स्यात्सासादनसम्यक्त्वं पाकेऽनन्तानुबन्धिनाम्॥९१॥
सम्यग्मिथ्यात्वपाकेन सम्यग्मिथ्यात्वमिष्यते।
मिथ्यात्वमुदयेनोक्तं मिथ्यादर्शनकर्मणः॥९२॥

अर्थ- तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से वह सम्यक्त्व तीन प्रकार का होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से सासादनसम्यक्त्व होता है। सम्यग्मिथ्यात्व-प्रकृति के उदय से सम्यग्मिथ्यात्व होता है तथा मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिथ्यात्व होता है। इस तरह सम्यक्त्वमार्गणा के छह भेद हैं। इनके लक्षण पहले कहे जा चुके हैं। मिथ्यात्व पहले गुणस्थान में, सासादन दूसरे गुणस्थान में, सम्यग्मिथ्यात्व तीसरे गुणस्थान में,

औपशमिकसम्यग्दर्शन चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान तक, क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन चौथे से सातवें तक और क्षायिकसम्यग्दर्शन चौथे से चौदहवें तक तथा सिद्धपर्याय में भी रहता है।

यो हि शिक्षाक्रियात्मार्थग्राही संज्ञी स उच्यते।
अतस्तु विपरीतो यः सोऽसंज्ञी कथितो जिनैः॥९३॥

अर्थ- जो जीव शिक्षा, क्रिया तथा आत्मा के प्रयोजन को ग्रहण करता है वह संज्ञी कहलाता है। इससे जो विपरीत है उसे जिनेन्द्र भगवान ने असंज्ञी कहा है। इस तरह संज्ञी और असंज्ञी के भेद से संज्ञीमार्गणा के दो भेद हैं।

गृह्णाति देहपर्याप्तियोग्यान् यः खलु पुद्गलान्।
आहारकः स विज्ञेयस्ततोऽनाहारकोऽन्यथा॥९४॥

अर्थ- जो औदारिकादि शरीर तथा पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है उसे आहारक जानना चाहिये और जो इससे विपरीत है उसे अनाहारक समझना चाहिए।

अस्त्यनाहारकोऽयोगः समुद्घातगतः परः।
सासनो विग्रहगतौ मिथ्यादृष्टिस्तथाव्रतः॥९५॥

अर्थ- अयोगकेवली, लोकपूरण समुद्घात करनेवाले सयोगकेवली, तथा विग्रहगति में स्थित मिथ्यादृष्टि; सासादन और अविरत सम्यग्दृष्टि जीव अनाहारक होते हैं।

विग्रहो हि शरीरं स्यात्तदर्थं या गतिर्भवेत्।
विशीर्णपूर्वदेहस्य सा विग्रहगतिः स्मृता॥९६॥

जीवस्य विग्रहगतौ कर्मयोगं जिनेश्वराः।
प्राहुर्देहान्तरप्राप्तिकर्मग्रहणकारणम्॥९७॥
जीवानां पञ्चताकाले यो भवान्तरसंक्रमः।
मुक्तानां चोर्द्ध्वगमनमनुश्रेणिगतिस्तयोः॥९८॥
सविग्रहाऽविग्रहा च सा विग्रहगतिर्द्विधा।
अविग्रहैव मुक्तस्य शेषस्यानियमः पुनः॥९९॥
अविग्रहैकसमया कथितेषु गतिर्जिनैः।
अन्या द्विसमया प्रोक्ता पाणिमुक्तैकविग्रहा॥१००॥
द्विविग्रहां त्रिसमयां प्राहुर्लाङ्गलिकां जिनाः।
गोमूत्रिका तु समयैश्चतुर्भिः स्यात्त्रिविग्रहा॥१०१॥
समयं पाणिमुक्ताया मन्यस्यां समयद्वयम्।
तथा गोमूत्रिकायां त्रीननाहारक इष्यते॥१०२॥

अर्थ- निश्चय से विग्रह का अर्थ शरीर है। जिसका पूर्व शरीर नष्ट हो गया है ऐसे जीव की नवीन शरीर के लिये जो गति (गमन) होती है वह विग्रहगति मानी गई है। जिनेन्द्र भगवान् ने विग्रहगति में जीव के कार्मण काययोग कहा है। यह कार्मण काययोग ही अन्य शरीर की प्राप्ति तथा नवीन कर्म ग्रहण का कारण है। मृत्यु होने पर जीवों का जो अन्य भव में गमन होता है तथा मुक्त जीवों का जो ऊर्ध्वगमन होता है उन दोनों में जीवों की गति श्रेणी के अनुसार ही होती है। सविग्रहा-मोड़ सहित और अविग्रहा-मोड़ रहित के भेद से वह विग्रहगति दो प्रकार की होती है। मुक्त जीव की गति अविग्रहा-मोड़ रहित ही होती है। शेष जीवों की गति का कोई नियम नहीं है अर्थात् उनकी गति दोनों प्रकार की होती है। जिस गति में विग्रह-मोड़ नहीं होता उसमें एक समय लगता है

तथा जिनेन्द्र भगवान् ने उसका इषुगति नाम कहा है। जिसमें एक मोड़ लेना पड़ता है उसमें दो समय लगते हैं तथा इसका पाणिमुक्ता नाम है। जिसमें दो मोड़ लेना पड़ते हैं उसमें तीन समय लगते हैं तथा उसे जिनेन्द्र भगवान् लाङ्गलिका-गति कहते हैं। जिसमें तीन मोड़ लेना पड़ते हैं उसमें चार समय लगते हैं और उसे गोमूत्रिका कहते हैं। पाणिमुक्तागति में जीव एक समय तक, लाङ्गलिका-गति में दो समय तक और गोमूत्रिकागति में तीन समय तक अनाहारक रहता है। इषुगति में जीव अनाहारक नहीं होता।

त्रिविधं जन्म जीवानां सर्वज्ञैः परिभाषितम्।
सम्मूर्च्छनात्तथा गर्भादुपपादात्तथैव च॥१०३॥
भवन्ति गर्भजन्मानः पोताण्डजजरायुजाः।
तथोपपादजन्मानो नारकास्त्रिदिवौकसः॥१०४॥
स्युः सम्मूर्च्छनजन्मानः परिशिष्टास्तथापरे।

अर्थ- सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद के भेद से सर्वज्ञ भगवान ने जीवों का जन्म तीन प्रकार का कहा है। पोत, अण्डज और जरायुज जीव गर्भजन्म वाले हैं, नारकी और देव उपपाद जन्मवाले हैं और शेष जीव सम्मूर्च्छन जन्मवाले हैं।

योनयो नव निर्दिष्टास्त्रिविधस्यापि जन्मनः॥१०५॥
सचित्तशीतविवृता अचित्ताशीत संवृताः।
सचित्ताचित्तशीतोष्णौ तथा विवृतसंवृतः॥१०६॥
योनिर्नारकदेवानामचित्तः कथितो जिनैः।
गर्भजानां पुनर्मिश्रः शेषाणां त्रिविधो भवेत्॥१०७॥
उष्णः शीतश्च देवानां नारकाणां च कीर्तितः।

उष्णोऽग्नि कायिकानां तु शेषाणां त्रिविधो भवेत्॥१०८॥
नारकैकाक्षदेवानां योनिर्भवति संवृतः।
विवृतो विकलाक्षाणां मिश्रः स्याद्गर्भजन्मनाम्॥१०९॥

अर्थ- उक्त तीनों प्रकार के जन्मों की सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण, विवृत, संवृत और विवृतसंवृत ये नौ योनियां कही गई हैं। जिनेन्द्र भगवान ने नारकी और देवों की अचित्त योनि कही है। गर्भजन्मवालों की सचित्ताचित्त योनि तथा शेष जीवों की तीनों प्रकार की अर्थात् किसी की सचित्त, किसी की अचित्त और किसी की सचित्ताचित्त योनि बतलाई है। देव नारकियों में किन्हीं की शीत तथा किन्हीं की उष्ण योनि, अग्निकायिक जीवों की उष्ण योनि और शेष जीवों की तीनों प्रकार की योनियां हैं। नारकी, एकेन्द्रिय और देवों की संवृत, विकलत्रयों की विवृत तथा गर्भजन्म वालों की मिश्र विवृतसंवृत योनि होती है।

नित्येतरनिगोदानां भूभ्यम्भोवाततेजसाम्।
सप्त सप्त भवन्त्येषां लक्षाणि दश शाखिनाम्॥११०॥
षट् तथा विकलाक्षाणां मनुष्याणां चतुर्दश।
तिर्यग्नारक देवानामेकैकस्य चतुष्टयम्।
एवं चतुरशीतिः स्याल्लक्षाणां जीवयोनयः॥१११॥

(षट्पदम्)

अर्थ- नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक और अग्निकायिक इन छह की सात-सात लाख, वनस्पतिकायिक की दश लाख, विकलत्रयों की छह लाख, मनुष्यों

की चौदह लाख, तिर्यञ्च, नारकी और देवों में प्रत्येक की चार-चार लाख इस तरह सब मिलाकर चौरासी लाख जीवयोनियाँ होती हैं।

द्वाविंशतिस्तथा सप्त त्रीणि सप्त यथाक्रमम्।
कोटी लक्षाणि भूभ्यम्भस्तेजोऽनिल शरीरिणाम्॥११२॥
वनस्पतिशरीराणां तान्यष्टाविंशतिः स्मृताः।
स्युर्द्वित्रिचतुरक्षाणां सप्ताष्ट नव च क्रमात्॥११३॥
तानि द्वादश सार्द्धानि भवन्ति जलचारिणाम्।
नवाहिपरिसर्पाणां गवादीनां तथा दश॥११४॥
वीनां द्वादश तानि स्युश्चतुर्दश नृणामपि॥
षड्विंशतिः सुराणां तु श्वाभ्राणां पञ्चविंशतिः॥११५॥
कुलानां कोटिलक्षाणि नवतिर्नवभिस्तथा।
पञ्चायुतानि कोटीनां कोटिकोटी च मीलनात्॥११६॥

अर्थ- पृथिवीकायिक के बाईस लाख, जलकायिक के सात लाख, अग्निकायिक के तीन लाख, वायुकायिक के सात लाख, वनस्पतिकायिक के अठ्ठाईस लाख, द्वीन्द्रियों के सात लाख, त्रीन्द्रियों के आठ लाख, चतुरिन्द्रियों के नौ लाख, जलचरों के साढ़े बारह लाख, सर्प तथा छाती से सरकनेवाले अजगर आदि के नौ लाख, गाय आदि चौपायों के दश लाख, पक्षियों के बारह लाख मनुष्यों के चौदह लाख, देवों के छब्बीस लाख और नारकियों के पच्चीस लाख कुलों की कोटियाँ हैं। सब मिलाकर कुलों की संख्या एक करोड़ निन्यानवे लाख पचास हजार को एक करोड़ से गुणा करने पर जितना लब्ध आवे उतनी है अर्थात् १९९५०००००००००००० प्रमाण है।

द्वाविंशतिर्भुवां सप्त पयसां दश शाखिनाम्।
नमस्वतां पुनस्त्रीणि वीनां द्वासप्ततिस्तथा॥११७॥
उरगाणां द्विसंयुक्ता चत्वारिंशत्प्रकर्षतः।
आयुर्वर्षसहस्राणि सर्वेषां परिभाषितम्॥११८॥
दिनान्ये कोनपञ्चाशत्त्र्यक्षाणां त्रीणि तेजसः।
षण्मासाश्चतुरक्षाणां भवत्यायुः प्रकर्षतः॥११९॥
नवायुः परिसर्पाणां पूर्वाङ्गानि प्रकर्षतः।
द्व्यक्षाणां द्वादशाब्दानि जीवितं स्यात्प्रकर्षतः॥१२०॥
असंज्ञिनस्तथा मत्स्याः कर्मभूजाश्चतुष्पदाः।
मनुष्याश्चैव जीवन्ति पूर्वकोटिं प्रकर्षतः॥१२१॥
एकं द्वे त्रोणि पल्यानि नृ-तिरश्चां यथाक्रमम्।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभोगभूमिषु जीवितम्।
कुभोगभूमिजानां तु पल्यमेकं तु जीवितम्॥१२२॥

(षट्पदम्)

अर्थ- पृथिवीकायिकजीवों की उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष, जलकायिक-जीवों की सात हजार वर्ष, वनस्पतिकायिक जीवों की दश हजार वर्ष, वायु-कायिकजीवों की तीन हजार वर्ष, पक्षियों की बहत्तर हजार वर्ष, सर्पों की ब्यालीस हजार वर्ष, तीन इन्द्रिय जीवों की उनंचास दिन, अग्निकायिक की तीन दिन, चौइन्द्रिय जीवों की छह माह, छाती से सरकनेवाले अजगर आदि की नौ पूर्वाङ्ग, दो इन्द्रियों की बारह वर्ष, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, मच्छ, कर्मभूमिज चौपाये और मनुष्यों की एक करोड़ पूर्व वर्ष, जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट भोगभूमि के मनुष्य तथा तिर्यञ्चों की

क्रम से एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य तथा कुभोग-भूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चों की एक पल्य प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है।

एकं त्रीणि तथा सप्त दश सप्तदशेति च।
द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशद् घर्मादिषु यथाक्रमम्॥१२३॥
स्यात्सागरोपमाण्यायुर्नारकाणां प्रकर्षतः।
दशवर्षसहस्राणि घम्मायां तु जघन्यतः॥१२४॥
वंशादिषु तु तान्येकं त्रीणि सप्त तथा दश।
तथा सप्तदश द्व्यग्रा विंशतिश्च यथोत्तरम्॥१२५॥

अर्थ- घर्मा, वंशा, मेघा, अञ्जना, अरिष्टा, मघवी और माघवी इन सात पृथिवियों में रहनेवाले नारकियों की उत्कृष्ट आयु क्रम से एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्तरह सागर, बाइस सागर और तेतीस सागर प्रमाण है। घर्मा पृथिवी में जघन्य आयु दश हजार वर्ष है तथा वंशा आदि पृथिवियों में क्रम से एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्तरह सागर और बाईस सागर प्रमाण है।

भावनानां भवत्यायुः प्रकृष्टं सागरोपमम्।
दशवर्षसहस्रं तु जघन्यं परिभाषितम्॥१२६॥

अर्थ- भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु एक सागर प्रमाण तथा जघन्य आयु दश हजार वर्ष प्रमाण कही गई है।

पल्योपमं भवत्यायुः सातिरेकं प्रकर्षतः।
दशवर्षसहस्रं तु व्यन्तराणां जघन्यतः॥१२७॥

अर्थ- व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य प्रमाण और जघन्य आयु दश हजार वर्ष प्रमाण है।

पल्योपमं भवत्यायुः सातिरेकं प्रकर्षतः।
पल्योपमाष्टभागस्तु ज्योतिष्काणां जघन्यतः॥१२८॥

अर्थ- ज्योतिष्कदेवों की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य और जघन्य आयु पल्य के आठवें भाग प्रमाण है।

द्वयोर्द्वयोरुभौ सप्त दश चैव चतुर्दश।
षोडशाष्टादशाप्येते सातिरेकाः पयोधयः॥१२९॥
समुद्रा विंशतिश्चैव तेषां द्वाविंशतिस्तथा।
सौधर्मादिषु देवानां भवत्यायुः प्रकर्षतः॥१३०॥
एकैकं वर्द्धयेदब्धिं नवग्रैवेयकेष्वतः।
नवस्वनुदिशेषु स्याद् द्वात्रिंशदविशेषतः॥१३१॥
त्रयस्त्रिंशत्समुद्राणां विजयादिषु पञ्चसु।
साधिकं पल्यमायुः स्यात्सौधर्मैशानयोर्द्वयोः॥१३२॥
परतः परतः पूर्वं शेषेषु च जघन्यतः।
आयुः सर्वार्थसिद्धौ तु जघन्यं नैव विद्यते॥१३३॥

अर्थ- सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ट शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार इन छह युगलों में क्रम से कुछ अधिक दो सागर, सात सागर, दश सागर, चौदह सागर, सोलह सागर और अठारह सागर की उत्कृष्ट आयु है। आनत-प्राणत युगल में बीस सागर तथा आरण-अच्युत युगल में बाईस सागर की उत्कृष्ट आयु है। इसके आगे नौग्रेवेयकों में प्रत्येक ग्रैवेयक के अनुसार एक-एक सागर की आयु बढ़ाना चाहिये। इस

तरह प्रथम ग्रैवेयक में तेईस सागर और नौवें ग्रैवेयक में इकतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। इसके आगे नौ अनुदिशों में सामान्यरूप से एक सागर की वृद्धि होकर बत्तीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। इसके ऊपर विजय आदि पाँच अनुत्तर विमानों में एक सागर बढ़कर तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जघन्य आयु कुछ अधिक एक पल्य प्रमाण है। इसके आगे पिछले युगलों की उत्कृष्ट स्थिति आगे के युगलों में जघन्य आयु हो जाती है। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती है।

अन्यत्रानपमृत्युभ्यः सर्वेषामपि देहिनाम्।
अन्तर्मुहूर्तमित्येषां जघन्येनायुरिष्यते॥१३४॥

अर्थ- जिनकी अपमृत्यु नहीं होती उन्हें छोड़कर अन्य सभी तिर्यञ्च और मनुष्यों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त मानी गई है।

असंख्येयसमायुष्काश्चरमोत्तममूर्त्तयः।
देवाश्च नारकाश्चैषामपमृत्युर्न विद्यते॥१३५॥

अर्थ- असंख्यातवर्ष की आयुवाले भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यञ्च, चरमोत्तमदेह के धारक मनुष्य, देव और नारकी इनकी अपमृत्यु नहीं होती।

घम्मायां सप्त चापानि सपादं च करत्रयम्।
उत्सेधः स्यात्ततोऽन्यासु द्विगुणो द्विगुणो हि सः॥१३६॥

अर्थ- घर्मा पृथिवी में नारकियों की ऊँचाई सात धनुष सवा तीन हाथ है और उससे नीचे अन्य पृथिवियों में दूनी दूनी है। (इस तरह

दूनी होती होती सातवीं पृथिवी में पाँच सौ धनुष की ऊँचाई हो जाती है।))।

शतानि पञ्च चापानां पञ्चविंशतिरेव च।
प्रकर्षेण मनुष्याणामुत्सेधः कर्मभूमिषु॥१३७॥
एकः क्रोशो जघन्यासु द्वौ क्रोशौ मध्यमासु च।
क्रोशत्रयं प्रकृष्टासु भोगभूषु समुन्नतिः॥१३८॥

अर्थ- कर्मभूमि में मनुष्यों की ऊँचाई उत्कृष्टरूप से पाँचसौ पच्चीस धनुष है। जघन्य भोगभूमि में एक कोश, मध्यम भोगभूमि में दो कोश और उत्तम भोगभूमि में तीन कोश है।

ज्योतिष्काणां स्मृताः सप्तासुराणां पञ्चविंशतिः।
शेषभावनभौमानां कोदण्डानि दशोन्नतिः॥१३९॥

अर्थ- ज्योतिष्कदेवों की सात धनुष, भवनवासियों में असुरकुमारों की पच्चीस धनुष और शेष भवनवासी तथा व्यन्तरदेवों की ऊँचाई दश धनुष है।

द्वयो सप्त द्वयोः षट् च हस्ताः पञ्च चतुर्ष्वतः।
ततश्चतुर्षु चत्त्वारः सार्द्धाश्चातो द्वयोस्त्रयः॥१४०॥
द्वयोस्त्रयश्च कल्पेषु समुत्सेधः सुधांशिनाम्।
अधोग्रैवेयकेषु स्यात्सार्द्धं हस्तद्वयं यथा॥१४१॥
हस्तद्वितयमुत्सेधो मध्यग्रैवेयकेषु तु।
अन्त्यग्रैवेयकेषु स्याद्धस्तोऽप्यर्द्ध समुन्नतिः।
एक हस्तसमुत्सेधो विजयादिषु पञ्चसु॥१४२॥

(षट्पदम्)

अर्थ- सौधर्म और ऐशान इन दो स्वर्गों में देवों की ऊँचाई सात हाथ; सानत्कुमार और माहेन्द्र इन दो स्वर्गों में छह हाथ; ब्रह्म ब्रह्मोत्तर-लान्तव और कापिष्ट इन चार स्वर्गों में पाँच हाथ, शुक्र-महाशुक्र-शतार और सहस्रार इन चार स्वर्गों में चार हाथ, आनत और प्राणत इन दो स्वर्गों में साढ़े तीन हाथ, आरण और अच्युत इन दो स्वर्गों में तीन हाथ, अधोग्रैवेयक के तीन विमानोंमें अढ़ाई हाथ, मध्यम ग्रैवेयकके तीन विमानों में दो हाथ, अन्तिम ग्रैवेयक के तीन विमानों तथा अनुदिशों में डेढ़ हाथ और विजयादिक पाँच अनुत्तरविमानों में एक हाथकी ऊँचाई है।

योजनानां सहस्रं तु सातिरेकं प्रकर्षतः।
एकेन्द्रियस्य देहः स्याद्विज्ञेयः स च पद्मिनि॥१४३॥
त्रिकोशः कथितः कुम्भी शङ्खो द्वादशयोजनः।
सहस्रयोजनो मत्स्यो मधुपश्चैक योजनः॥१४४॥

अर्थ- एकेन्द्रियजीव का शरीर उत्कृष्टता से कुछ अधिक एकहजार योजन विस्तारवाला है। एकेन्द्रियजीव की यह उत्कृष्ट अवगाहना कमल की जानना चाहिये। दो इन्द्रिय जीवों में शङ्ख बारह योजन विस्तारवाला है, तीन इन्द्रिय जीवों में कुम्भी-चिंउटी तीन कोश विस्तारवाली है, चार इन्द्रिय जीवों में भौंरा एक योजन-चार कोश विस्तारवाला है और पाँच इन्द्रिय जीवों में महामच्छ एकहजार योजन विस्तार वाला है।

असंख्याततमो भागो यावानस्त्यङ्गुलस्य तु।
एकाक्षादिषु सर्वेषु देहस्तावान् जघन्यतः॥१४५॥

अर्थ- एकेन्द्रियादिक सभी जीवों का शरीर जघन्यरूप से घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

घर्मामसंज्ञिनो यान्ति वंशान्ताश्च सरीसृपाः।
मेघान्ताश्च विहङ्गाश्च अञ्जनान्ताश्च भोगिनः॥१४६॥
तामरिष्टां च सिंहास्तु मघव्यन्तास्तु योषितः।
नरा मत्स्याश्च गच्छन्ति माघवीं ताश्च पापिनः॥१४७॥

अर्थ- असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय घर्मानामक पहली पृथिवी तक, सरीसृप वंशा नामक दूसरी पृथिवी तक, पक्षी मेघा नामक तीसरी पृथिवी तक, सर्प अञ्जना नामक चौथी पृथिवी तक, सिंह अरिष्टा नामक पाँचवीं पृथिवी तक, स्त्रियाँ मघवी नामक छठवीं पृथिवी तक, पापी मच्छ तथा मनुष्य माघवी नामक सातवीं पृथिवी तक जाते हैं।

न लभन्ते मणुष्यत्वं सप्तम्या निर्गताः क्षितेः।
तिर्यक्त्वे च समुत्पद्य नरकं यान्ति ते पुनः॥१४८॥
मघ्व्या मनुष्यलाभेन षष्ठ्या भूमेर्विनिर्गताः।
संयमं तु पुनः पुण्यं नाप्नुवन्तीति निश्चयः॥१४९॥
निर्गताः खलु पञ्चम्या लभन्ते केचन व्रतम्।
प्रयान्ति न पुनर्मुक्तिं भावसंक्लेशयोगतः॥१५०॥
लभन्ते निर्वृतिं केचिच्चतुर्थ्या निर्गताः क्षितेः।
न पुनः प्राप्नुवन्त्येव पवित्रां तीर्थकर्तृताम्॥१५१॥
लभन्ते तीर्थकर्तृत्वं ततोऽन्याभ्यो विनिर्गताः।
निर्गत्य नरकान्न स्युर्बल केशवचक्रिणः॥१५२॥

अर्थ- सातवीं पृथिवी से निकले हुए नारकी मनुष्यपर्याय प्राप्त नहीं करते। वे तिर्यञ्चों में उत्पन्न होकर फिरसे नरक जाते हैं। मघवी नामक छठवीं पृथिवी से निकले हुए नारकी मनुष्य तो होते हैं पर वे पवित्र संयम को प्राप्त नहीं होते, यह निश्चय है। पाँचवीं पृथिवी से निकले हुए कोई नारकी मुनिव्रत तो धारण कर लेते हैं परन्तु भावों की संक्लेशता के कारण मुक्ति को प्राप्त नहीं होते। चौथी पृथिवी से निकले हुए कितने ही नारकी मुक्ति तो प्राप्त कर लेते हैं परन्तु पवित्र तीर्थंकर का पद प्राप्त नहीं करते हैं। इनके सिवाय अन्य पृथिवियों से अर्थात् पहली, दूसरी और तीसरी पृथिवी से निकले हुए नारकी तीर्थंकर पद प्राप्त कर सकते हैं। नरक से निकल कर नारकी बलभद्र, नारायण और चक्रवर्ती नहीं होते।

सर्वेऽपर्याप्तका जीवाः सूक्ष्मकायाश्च तैजसाः।
वायवोऽसंज्ञिनश्चैषां न तिर्यग्भ्यो विनिर्गमः॥१५३॥
त्रयाणां खलु कायानां विकलानामसंज्ञिनाम्।
मानवानां तिरश्चां वाऽविरुद्धः संक्रमो मिथः॥१५४॥
नारकाणां सुराणां च विरुद्धः संक्रमो मिथः।
नारको न हि देवः स्यान्न देवो नारको भवेत्॥१५५॥
भूम्यापः स्थूलपर्याप्ताः प्रत्येकाङ्गवनस्पतिः।
तिर्यग्मानुषदेवानां जन्मैषां परिकीर्तितम्॥१५६॥
सर्वेऽपि तैजसा जीवाः सर्वे चानिलकायिकाः।
मनुजेषु न जायन्ते ध्रुवं जन्मन्यनन्तरे॥१५७॥
पूर्णासंज्ञितिरश्चामविरुद्धं जन्म जातुचित्।
नारकामरतिर्यक्षु नृषु वा न तु सर्वतः॥१५८॥

संख्यातीतायुषां मर्त्यतिरश्चां तेभ्य एव तु।
संख्यातवर्षजीविभ्यः संज्ञिभ्यो जन्म संस्मृतम्॥१५९॥
संख्यातीतायुषां नूनं देवेष्वेवास्ति संक्रमः।
निसर्गेण भवेत्तेषां यतो मन्दकषायता॥१६०॥
शलाकापुरुषा नैव सन्त्यनन्तरजन्मनि।
तिर्यञ्चो मानुषाश्चैव भाज्याः सिद्धगतौ तु ते॥१६१॥

अर्थ- सब लब्ध्यपर्याप्तक जीव, सूक्ष्मकाय, अग्निकायिक, वायुकायिक और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय इनका तिर्यञ्चों से (अन्य गति में) निकलना नहीं होता अर्थात् ये मर कर पुनः तिर्यंच गति में ही उत्पन्न होते हैं। पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक इन तीन कायिकों का, विकलत्रयों का तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रियों का मनुष्य और तिर्यञ्चों में परस्पर उत्पन्न होना विरुद्ध नहीं है अर्थात् मनुष्य मर कर इनमें उत्पन्न हो सकते हैं और ये मर कर मनुष्यों में उत्पन्न हो सकते हैं। नारकी और देवों का परस्पर संक्रमण विरुद्ध है अर्थात् नारकी देव नहीं हो सकता और देव नारकी नहीं हो सकता। स्थूलपर्याप्तक पृथिवीकायिक, जलकायिक, और प्रत्येक वनस्पति इनमें तिर्यञ्च मनुष्य तथा देवों का जन्म कहा गया है। सभी अग्निकायिक और सभी वायुकायिक जीव अनन्तर जन्म में मनुष्यों में उत्पन्न नहीं होते हैं, यह नियम है। पर्याप्तक असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों का जन्म कदाचित् नारकियों, देवों, तिर्यञ्चों और मनुष्यों में विरुद्ध नहीं है अर्थात् कभी किसी जीव का जन्म होता है सबका सर्वदा नहीं। असंख्यातवर्ष की आयुवाले मनुष्य और तिर्यञ्चों का जन्म संख्यातवर्ष की आयु-वाले संज्ञी मनुष्य और तिर्यञ्चों से माना गया है अर्थात् भोगभूमि के मनुष्य और

तिर्यञ्च कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं। नारकी और देवों का जन्म भोगभूमि में नहीं होता। इसी तरह भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यञ्च भी मर कर भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यञ्च नहीं होते हैं। असंख्यातवर्ष की आयुवाले-भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्चों का जन्म नियम से देवों में ही होता है क्योंकि उनके स्वभाव से मन्दकषाय रहती है। शलाकापुरुष अनन्तर जन्म में तिर्यञ्च और मनुष्य नियम से नहीं होते अर्थात् नरक और देवगति में उत्पन्न होते हैं। कितने ही शलाकापुरुष सिद्धगति को भी प्राप्त होते हैं।

ये मिथ्यादृष्टयो जीवाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनोऽथवा।
व्यन्तरास्ते प्रजायन्ते तथा भवनवासिनः॥१६२॥
संख्यातीतायुषो मर्त्यास्तिर्यञ्चाप्यसद्दृशः।
उत्कृष्टास्तापसाश्चैव यान्ति ज्योतिष्कदेवताम्॥१६३॥
ब्रह्मलोके प्रजायन्ते परिव्राजः प्रकर्षतः।
आजीवास्तु सहस्रारं प्रकर्षेण प्रयान्ति हि॥१६४॥
उत्पद्यन्ते सहस्रारे तिर्यञ्चो व्रतसंयुताः।
अत्रैव हि प्रजायन्ते सम्यक्त्वाराधका नराः॥१६५॥
न विद्यते परं ह्यस्मादुपपादोऽन्यलिङ्गिनाम्।
निर्ग्रन्थश्रावका ये ते जायन्ते यावदच्युतम्॥१६६॥
धृत्वा निर्ग्रन्थलिङ्गं ये प्रकृष्टं कुर्वते तपः।
अन्त्यग्रैवेयकं यावदभव्याः खलु यान्ति ते॥१६७॥
यावत्सर्वार्थसिद्धिं तु निर्ग्रन्था हि ततः परम्।
उत्पद्यन्ते तपोयुक्ता रत्नत्रयपवित्रिताः॥१६८॥

अर्थ- जो मिथ्यादृष्टि जीव संज्ञी अथवा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय हैं वे व्यन्तर तथा भवनवासी होते हैं। मिथ्यादृष्टि भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यञ्च तथा उत्कृष्ट तापस ये ज्योतिष्क देवों में उत्पत्ति को प्राप्त होते हैं। परिव्राजक अधिक से अधिक ब्रह्मलोक अर्थात् पाँचवें स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। आजीवक अधिक से अधिक सहस्रार नामक बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं। व्रती तिर्यञ्च और अविरत सम्यग्दृष्टि भी यहीं तक उत्पन्न होते हैं। इसके आगे अन्य लिङ्ग के धारकों की उत्पत्ति नहीं है। जो निष्परिग्रह श्रावक हैं वे अच्युत स्वर्गं तक उत्पन्न होते हैं। जो अभव्य निर्ग्रन्थलिङ्ग अर्थात् दिगम्बर मुनि का वेष धारणकर उत्कृष्ट तप करते हैं वे अन्तिम ग्रैवेयक तक जाते हैं। और जो रत्नत्रय से पवित्र निर्ग्रन्थ तपस्वी हैं वे सर्वार्थसिद्धि तक उत्पन्न होते हैं।

भाज्या एकेन्द्रियत्वेन देवा ऐशानतश्च्युताः।
तिर्यक्त्वमानुषत्वाभ्यामासहस्रारतः पुनः॥१६९॥
ततः परं तु ये देवास्ते सर्वेऽनन्तरे भवे।
उत्पद्यन्ते मनुष्येषु न हि तिर्यक्षु जातुचित्॥१७०॥
शलाकापुरुषा न स्युर्भौमज्योतिष्कभावनाः।
अनन्तरभवे तेषां भाज्या भवति निर्वृतिः॥१७१॥
ततः परं विकल्प्यन्ते यावद्ग्रैवेयकं सुराः।
शलाका पुरुषत्वेन निर्वाणगमनेन च॥१७२॥
तीर्थेशरामचक्रित्वे निर्वाणगमनेन च।
च्युताः सन्तो विकल्प्यन्तेऽनुदिशानुत्तरामरः॥१७३॥
भाज्यास्तीर्थेश चक्रित्वे च्युताः सर्वार्थसिद्धितः।
विकल्प्या रामभावेऽपि सिद्ध्यन्ति नियमात्पुनः॥१७४॥

दक्षिणेन्द्रास्तथा लोकपाला लौकान्तिकाः शची।
शक्रश्च नियमाच्च्युत्वा सर्वे ते यान्ति निर्वृतिम्॥१७५॥

अर्थ- ऐशान स्वर्ग तक से च्युत देव एकेन्द्रियों में उत्पन्न हो सकते हैं। सहस्रार स्वर्ग तक से च्युत देव तिर्यंच और मनुष्य दोनों में उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु इसके आगे के देव अनन्तरभव में नियम से मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं। तिर्यञ्चों में कभी नहीं उत्पन्न होते। व्यन्तर, ज्योतिष्क और भवनवासी देव अनन्तरभव में शलाका पुरुष नहीं होते। वहाँ से आये हुए मनुष्यों को निर्वाण भी प्राप्त हो सकता है। ग्रैवेयक तक से आये हुए देव शलाकापुरुष हो सकते हैं और मोक्ष भी जा सकते हैं। अनुदिश और अनुत्तरवासी देव वहाँ से च्युत होकर तीर्थंकर, बलभद्र और चक्रवर्ती हो सकते हैं और निर्वाण को भी प्राप्त हो सकते हैं। सर्वार्थसिद्धि से च्युत देव तीर्थंकर चक्रवर्ती और बलभद्र भी हो सकते हैं तथा नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं। दक्षिण दिशा के इन्द्र, लोकपाल, लौकान्तिकदेव, शची और सौधर्मेन्द्र ये सभी स्वर्ग से च्युत हो, नियम से मनुष्य होकर उसी भव से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

धर्माधर्मास्तिकायाभ्यां व्याप्तः कालाणुभिस्तथा।
व्योम्नि पुद्गलसंछन्नो लोकः स्यात्क्षेत्रमात्मनाम्॥१७६॥

अर्थ- आकाश के बीच में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, तथा कालाणुओं से व्याप्त और पुद्गलद्रव्य से युक्त लोक है। यह लोक ही जीवों का क्षेत्र-आधार है।

अधो वेत्रासनाकारो मध्येऽसौ झल्लरीसमः।
ऊर्ध्वं मृदङ्गसंस्थानो लोकः सर्वज्ञवर्णितः॥१७७॥

अर्थ- सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा हुआ यह लोक, अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से तीन प्रकार का है। यह लोक नीचे वेत्रासन के आकार का है, मध्य में झालर के समान है और ऊपर मृदङ्ग के सदृश है।

सर्वसामान्यतो लोकस्तिरश्चां क्षेत्रमिष्यते।
श्वाभ्रमानुशदेवानामथातस्तद्विभज्यते॥१७८॥

अर्थ- सर्वसामान्यरूप से यह लोक तिर्यञ्चों का क्षेत्र माना जाता है। अब नरक, मनुष्य और देवों के क्षेत्र का विभाग किया जाता है।

अधोभागे हि लोकस्य सन्ति रत्नप्रभादयः।
घनाम्वुपवनाकाशे प्रतिष्ठाः सप्त भूमयः॥१७९॥
रत्नप्रभादिमा भूमिस्ततोऽधः शर्कराप्रभा।
स्याद्वालुकाप्रभातोऽस्धततः पङ्कप्रभा मता॥१८०॥
ततो धूमप्रभाधस्तात्ततोऽधस्तात्तमः प्रभा।
तमस्तमः प्रभातोऽधो भुवामित्थं व्यवस्थितिः॥१८१॥

अर्थ- लोक के अधोभाग में रत्नप्रभा आदि सात भूमियाँ हैं जो घनोदधिवात-वलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाश के आधार हैं। उन भूमियों में रत्नप्रभा पहली भूमि है, उसके नीचे शर्कराप्रभा हैं, उसके नीचे बालुकाप्रभा है; उसके नीचे पड्ंकप्रभा है, उसके नीचे धूमप्रभा है, उसके नीचे तमः प्रभा है, और उसके नीचे तमस्तमःप्रभा है। इस प्रकार सात भूमियों की स्थिति है।

त्रिंशन्नरकलक्षाणि भवन्त्युपरिमक्षितौ।
अधः पञ्चकृतिस्तस्यास्ततोऽधो दशपञ्च च॥१८२॥

ततोऽधो दशलक्षाणि त्रीणि लक्षाण्यधस्ततः।
पञ्चोनं लक्षमेकं तु ततोऽधः पञ्च तान्यतः॥१८३॥

अर्थ- सबसे ऊपर की भूमि में तीस लाख, उससे नीचे की भूमि में पच्चीस लाख, उससे नीचे की भूमि में पन्द्रह लाख, उससे नीचे की भूमि में दश लाख, उससे नीचे की भूमि में तीन लाख, उससे नीचे की भूमि में पाँच कम एक लाख और उससे नीचे की भूमिमें सिर्फ पाँच विल हैं। ये विल नरक कहलाते हैं।

परिणामवपुर्लेश्यावेदनाविक्रियादिभिः।
अत्यन्तमशुभैर्जीवा भवन्त्येतेषु नारकाः॥१८४॥
अन्योन्योदीरितासह्य दुःखभाजो भवन्ति ते।
संक्लिष्टासुरनिर्वृत्तदुःखाश्चोद्धर्वक्षितित्रये॥१८५॥
पाकान्नरकगत्यास्ते तथा च नरकायुषः।
भुञ्जते दुःकृतं घोरं चिरं सप्तक्षितिस्थिताः॥१८६॥

अर्थ- इन नरकों में नारकी जीव, अत्यन्त अशुभ परिणाम शरीर, लेश्या, वेदना और विक्रिया आदि से युक्त रहते हैं। परस्पर में दिये हुए असह्य दुःख को भोगते हैं। ऊपर की तीन पृथिवियों में संक्लेश परिणामों के धारक असुरकुमार के देव उन्हें दुःखी करते हैं। इस तरह सातों भूमियों में रहनेवाले नारकी जीव नरकगति उदय से नरकायु पर्यन्त चिरकाल तक घोर पाप का फल भोगते हैं।

मध्यभागे तु लोकस्य तिर्यक्प्रचयवर्द्धिनः।
असंख्याः शुभनामानो भवन्ति द्वीपसागराः॥१८७॥
जम्बूद्वीपोऽस्ति तन्मध्ये लक्षयोजनविस्तारः।

आदित्यमण्डलाकारो बहुमध्यस्थ मन्दरः॥१८८॥
द्विगुणद्विगुणेनातो विष्कम्भेणार्णवादयः।
पूर्वं पूर्वं परिक्षिप्य वलयाकृतयः स्थिताः॥१८९॥
जम्बूद्वीपं परिक्षिप्य लवणोदः स्थितोऽर्णवः।
द्वीपस्तु धातकीखण्डस्तं परिक्षिप्य संस्थितः॥१९०॥
आवेष्ट्य धातकीखण्डं स्थितः कालोदसागरः।
आवेष्ट्य पुष्करद्वीपः स्थितः कालोदसागरम्॥१९१॥
परिपाट्यानया ज्ञेयाः स्वयंभूरमणोदधिम्।
यावज्जिनाज्ञया भव्यैरसंख्या द्वीपसागराः॥१९२॥

अर्थ- लोक के मध्यभाग में तिर्यक् रूप से (समान धरातल पर) बढ़ते हुए शुभ नामवाले असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। उन सबके बीच में एक लाख योजन विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। यह जम्बूद्वीप सूर्यमण्डल के समान आकारवाला है तथा इसके ठीक बीच में मेरु पर्वत स्थित है। इसके आगे दूने दूने विस्तारवाले समुद्र तथा द्वीप हैं। वे समुद्र और द्वीप पूर्व-पूर्व द्वीप और समुद्र को घेरे हुए चूड़ी के आकार स्थित हैं। जैसे जम्बूद्वीप को घेरकर लवणसमुद्र स्थित है। उसे घेरकर धातकी खण्डद्वीप स्थित है। धातकीखण्डद्वीप को घेरकर कालोदधिसमुद्र स्थित है। और कालोदधिसमुद्र को घेरकर पुष्करद्वीप स्थित है। इसी परिपाटी से स्वयंभूरमणसमुद्र पर्यन्त असंख्यात द्वीप और समुद्र जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा से भव्य जीवों के द्वारा जानने योग्य हैं।

सप्त क्षेत्राणि भरतस्तथा हैमवतो हरिः।
विदेहो रम्यकश्चैव हैरण्यवत एव च।

ऐरावतश्च तिष्ठन्ति जम्बूद्वीपे यथाक्रमम्॥१९३॥

(षट्पदम्)

अर्थ- जम्बूद्वीप में क्रम से भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, और ऐरावत ये सात क्षेत्र स्थित हैं।

पार्श्वेषु मणिभिश्चित्रा ऊर्ध्वाधस्तुल्यविस्तराः।
तद्विभागकराः षट् स्युः शैलाः पूर्वापरायताः॥१९४॥
हिमवान्महाहिमवान्निषधो नीलरुक्मिणौ।
शिखरी चेति संचिन्त्या एते वर्षधराद्रयः॥१९५॥
कनकार्जुन कल्लाणवैडूर्यार्जुनकाञ्चनैः।
यथाक्रमेण निर्वृत्ताश्चिन्त्यास्ते षण्महीधराः॥१९६॥

अर्थ- उपर्युक्त सात क्षेत्रों का विभाग करनेवाले छह पर्वत हैं। ये पर्वत किनारों में मणियों से चित्र-विचित्र हैं, ऊपर, नीचे और मध्य में तुल्य विस्तारवाले हैं तथा पूर्व से पश्चिम तक लम्बे हैं। इनके नाम हैं-१ हिमवान् २ महाहिमवान् ३ निषध ४ नील ५ रुक्मी और ६ शिखरी। ये पर्वत वर्षधर पर्वत अर्थात् कुलाचल कहे जाते हैं। ये छहों पर्वत क्रम से सुवर्ण, चाँदी, सुवर्ण, नीलमणि, चाँदी तथा सुवर्ण से निर्मित हैं अर्थात् उनके समान वर्णवाले हैं।

पद्मस्तथा महापद्मस्तिगिञ्छः केशरी तथा।
पुण्डरीको महान् क्षुद्रो ह्रदा वर्षधराद्रिषु॥१९७॥
सहस्रयोजनायाम आद्यस्तस्यार्द्धविस्तरः।
द्वितीयो द्विगुणस्तस्मात्तृतीयो द्विगुणस्ततः॥१९८॥
उत्तरा दक्षिणैस्तुल्या निम्नास्ते दशयोजनीम्।

प्रथमे परिमाणेन योजनं पुष्करं हृदे॥१९९॥
द्विचतुर्योजनं ज्ञेयं तद् द्वितीयतृतीययोः।
अपाच्यवदुदीच्यानां पुष्कराणां प्रमाश्रिताः॥२००॥
श्रीश्च ह्रीश्च धृतिः कीर्तिर्बुद्धिर्लक्ष्मीश्च देवताः।
पल्योपमायुषस्तेषु पर्षत्सामानिकान्विताः॥२०१॥

अर्थ- उन कुलाचलों पर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केशरी, महा-पुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के छह सरोवर हैं। पहला सरोवर एक हजार योजन लम्बा और पाँच सौ योजन चौड़ा है। दूसरा सरोवर इससे दूना है और तीसरा सरोवर दूसरे से दूना है। उत्तर के तीन सरोवर दक्षिण के सरोवरों के समान विस्तारवाले हैं। ये सभी सरोवर दश योजन गहरे हैं। पहले सरोवर में एक योजन विस्तारवाला कमल है। दूसरे सरोवर में दो योजन विस्तारवाला और तीसरे सरोवर में चार योजन विस्तारवाला कमल है। उत्तर के कमलों का प्रमाण दक्षिण के कमलों के समान है। उन कमलों पर क्रम से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, और लक्ष्मी नाम की देवियाँ रहती हैं। ये देवियाँ एक पल्य की आयुवाली हैं तथा पारिषत्क और सामानिक जाति के देवों से सहित हैं।

गङ्गासिन्धू उभे रोहिद्रोहितास्ये तथैव च।
ततो हरिद्धरिकान्ते च शीताशीतोदके तथा॥२०२॥
स्तो नारीनरकान्ते च सुवर्णार्जुनकूलिके।
रक्तारक्तोदके च स्तो द्वे द्वे क्षेत्रे च निम्नगे॥२०३॥
पूर्वसागरगामिन्यः पूर्वा नद्यो द्वयोर्द्वयोः।
पश्चिमार्णवगामिन्यः पश्चिमास्तु तयोर्मताः॥२०४॥

गङ्गासिन्धुपरीवारः सहस्राणि चतुर्दश।
नदीनां द्विगुणास्तिस्रस्तिसृतोऽर्द्धार्द्धहापनम्॥२०५॥

अर्थ- गङ्गा सिन्धु, रोहित रोहितास्या, हरित् हरिकान्ता, शीता शीतोदा, नारी नरकान्ता सुवर्णकूला रूप्यकूला और रक्ता रक्तोदा इन सात युगलों की चौदह महानदियाँ हैं। जम्बूद्वीप के सात क्षेत्रों में प्रत्येक क्षेत्र में दो-दो नदियाँ बहती हैं। दो-दो नदियों के युगल में पहली नदी पूर्व समुद्र की ओर जाती है और दूसरी नदी पश्चिम समुद्र की ओर गमन करती है। गङ्गा-सिन्धु का सहायक परिवार चौदह हजार नदियाँ हैं। इसके आगे तीन युगलों की सहायक नदियों का परिवार दूना दूना है और उसके आगे तीन युगलों का परिवार आधा-आधा होता जाता है।

दशोनद्विशतीभक्तो जम्बूद्वीपस्य विस्तरः।
विस्तारो भरतस्यासौ दक्षिणोत्तरतः स्मृतः॥२०६॥
द्विगुणद्विगुणा वर्षधरवर्षास्ततो मताः।
आविदेहात्ततस्तु स्युरुत्तरा दक्षिणैः समाः॥२०७॥

अर्थ- जम्बूद्वीप के विस्तार अर्थात् एक लाख योजन में एकसौ नब्बे योजन का भाग देने पर जो लब्ध आता है उतना अर्थात् ५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन भरत क्षेत्र का दक्षिण से उत्तर तक विस्तार माना गया है। आगेके कुलाचल और क्षेत्र दूने दूने विस्तार वाले हैं। यह दूने दूने विस्तार का क्रम विदेह क्षेत्र तक ही है। उत्तर के कुलाचल और क्षेत्र दक्षिण के कुलाचल और क्षेत्रों के समान हैं।

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ षट्समे वृद्धिहानिदे।
भरतैरावतौ मुक्त्वा नान्यत्र भवतः क्वचित्॥२०८॥

अर्थ- छह कालों से युक्त तथा वृद्धि और हानि को देनेवाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी भरत और ऐरावत क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र किसी क्षेत्र में नहीं होती हैं।

जम्बूद्वीपोक्तसंख्याभ्यो वर्षा वर्षधरा अपि।
द्विगुणा धातकीखण्डे पुष्करार्द्धे च निश्चिताः॥२०९॥
पुष्करद्वीपमध्यस्थो मानुषोत्तरपर्वतः।
श्रूयते वलयाकारस्तस्य प्रागेव मानुषाः॥२१०॥
द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु द्वयोश्चापि समुद्रयोः।
निवासोऽत्र मनुष्याणामत एव नियम्यते॥२११॥

अर्थ- जम्बूद्वीप में क्षेत्र और कुलाचलों की जो संख्या कही गई है, धातकी-खंड और पुष्करार्ध में उससे दूनी संख्या निश्चित है अर्थात् इन दो खण्डों में चौदह-चौदह क्षेत्र और बारह-बारह कुलाचल हैं। पुष्करद्वीप के मध्य में चूड़ी के आकार वाला मानुषोत्तर पर्वत सुना जाता है। उसके पहले-पहले ही मनुष्यों का सद्भाव कहा है। इसीलिये अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों में मनुष्यों का निवास नियमित किया जाता है।

आर्यम्लेच्छविभेदेन द्विविधास्ते तु मानुषाः।
आर्यखण्डोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः।
म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि॥२१२॥

(षट्पदम्)

अर्थ- आर्य और म्लेच्छों के भेद से मनुष्य दो प्रकार के हैं। जो आर्यखण्ड में उत्पन्न हैं वे आर्य कहलाते हैं। आर्य खण्ड में उत्पन्न होनेवाले कितने ही शक, यवन, शबर आदि म्लेच्छ भी कहलाते

हैं। म्लेच्छखण्डों तथा अन्तरद्वीपों में उत्पन्न हुए मनुष्य म्लेच्छ कहलाते हैं।

भावनव्यन्तरज्योतिर्वैमानिकविभेदतः।
देवाश्चतुर्णिकायाः स्युर्नामकर्मविशेषतः॥२१३॥

अर्थ- भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से देवों के चार निकाय हैं। ये भेद नामकर्म की विशेषता से होते हैं।

दशधा भावना देवा अष्टधा व्यन्तराः स्मृताः।
ज्योतिष्काः पञ्चधा ज्ञेयाः सर्वे वैमानिका द्विधा॥२१४॥

अर्थ- भवनवासी दश प्रकार के, व्यन्तर आठ प्रकार के, ज्योतिष्क पाँच प्रकार के और सभी वैमानिक दो प्रकार के जानना चाहिये।

नागासुरसुपर्णाग्निदिग्वातस्तनितोदधिः।
द्वीपविद्युत्कुमाराख्या दशधा भावनाः स्मृताः॥२१५॥

अर्थ- नागकुमार, असुरकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, दिक्कुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और विद्युत्कुमार ये दश प्रकार के भवनवासी देव माने गये हैं।

किन्नराः किम्पुरुषाश्च गन्धर्वाश्च महोरगाः।
यक्षराक्षसभूताश्च पिशाचा व्यन्तराः स्मृताः॥२१६॥

अर्थ- किन्नर, किम्पुरुष, गन्धर्व, महोरग, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ प्रकार के व्यन्तर स्मरण किये गये हैं।

सूर्याचन्द्रमसौ चैव ग्रहनक्षत्रतारकाः।
ज्योतिष्काः पञ्चधा ज्ञेया ते चलाचलभेदतः॥२१७॥

अर्थ- सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारा के भेद से ज्योतिष्कदेव पाँच प्रकार के जानना चाहिये। ये ज्योतिष्क देव चल और अचल के भेद से दो प्रकार के हैं। अढ़ाई द्वीप के ज्योतिष्क देव चल हैं और उसके बाहर के अचल-अवस्थित हैं।

कल्पोपपन्नास्तथा कल्पातीता ते वैमानिका द्विधा।

अर्थ- कल्पोपपन्न और कल्पातीत के भेद से वैमानिक देव दो प्रकार के हैं। सोलहवें स्वर्ग तक के देव कल्पोपपन्न और उसके आगे के कल्पातीत कहलाते हैं।

इन्द्राः सामानिकाश्चैव त्रायस्त्रिंशाश्च पार्षदाः॥२१८॥
आत्मरक्षास्तथा लोकपालानीकप्रकीर्णकाः।
किल्विषा आभियोग्याश्च भेदाः प्रतिनिकायकाः॥२१९॥
त्रायस्त्रिंशैस्तथा लोकपालैर्विरहिताः परे।
व्यन्तरज्योतिषामष्टौ भेदाः सन्तीति निश्चिताः॥२२०॥

अर्थ- इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पार्षद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, किल्विष और अभियोग्य ये दश भेद प्रत्येक निकाय में होते हैं। परन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्क देव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल भेद से रहित हैं अर्थात् उनके आठ ही भेद होते हैं।

पूर्वे कायप्रवीचारा व्याप्यैशानं सुराः स्मृताः।
स्पर्शरूपध्वनिस्वान्त प्रवीचारास्ततः परे।
ततः परेऽप्रवीचाराः कामक्लेशाल्पभावतः॥२२१॥

(षट्पदम्)

अर्थ- भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म ऐशान स्वर्ग तक के देव कायप्रवीचार हैं। उसके आगे तीसरे चौथे स्वर्ग के देव स्पर्शप्रवीचार, पाँचवें से आठवें स्वर्ग तक के देव रूपप्रवीचार, नौवें से बारहवें तक शब्दप्रवीचार और तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक के देव मनःप्रवीचार होते हैं। उसके आगे के देव प्रवीचार से रहित होते हैं क्योंकि उनके काम-बाधा अत्यन्त अल्प रहती है।

घर्मायाः प्रथमे भागे द्वितीयेऽपि च कानिचित्।
भवनानि प्रसिद्धानि वसन्त्येतेषु भावनाः॥२२२॥
रत्नप्रभाभुवो मध्ये तथोपरितलेऽपि च।
विविधेष्वन्तरेष्वत्र व्यन्तरा निवसन्ति ते॥२२३॥
उपरिष्टान्महीभागात् पटलेषु नभोऽङ्गणे।
तिर्यग्लोकं समाच्छाद्य ज्योतिष्का निवसन्ति ते॥२२४॥

अर्थ- घर्मा-रत्नप्रभा पृथिवी के पहले और दूसरे भाग में कुछ भवन प्रसिद्ध हैं उनमें भवनवासी देव रहते हैं। रत्नप्रभा पृथिवी के मध्यभाग में, उपरितन भाग में और मध्यमलोक के नाना स्थानों में व्यन्तर देव निवास करते हैं। पृथिवी से ऊपर चलकर आकाश में ज्योतिष्क निवास करते हैं। ये ज्योतिष्क देव समस्त मध्यम लोक के आकाश को व्याप्तकर स्थित हैं।

ये तु वैमानिका देवा ऊर्ध्वलोके वसन्ति ते।
उपर्युपरि तिष्ठत्सु विमानप्रतरेष्विह॥२२५॥
अर्द्धभागे हि लोकस्य त्रिषष्टिः प्रतराः स्मृताः।
विमानैरिन्द्रकैर्युक्ताः श्रेणीबद्धैः प्रकीर्णकैः॥२२६॥
सौधर्मेशानकल्पौ द्वौ तथा सानत्कुमारकः।

माहेन्द्रश्च प्रसिद्धौ द्वौ ब्रह्मब्रह्मोत्तरावुभौ॥२२७॥
उभौ लान्तवकापिष्टौ शुक्रशुक्रौ महास्वनौ।
द्वौ सतारसहस्रारावान तप्राणतावुभौ॥२२८॥
आरणाच्युतनामानौ द्वौ कल्पाश्चेति षोडश।
ग्रैवेयाणि नवातोऽतो नवानुदिशचक्रकम्॥२२९॥
विजयं वैजयन्तं च जयन्तमपराजितम्।
सर्वार्थसिद्धिरित्येषां पञ्चानां प्रतरोऽन्तिमः॥२३०॥
एषु वैमानिका देवा जायमानाः स्वकर्मभिः।
द्युतिलेश्या विशुद्ध्यायुरिन्द्रियावधिगोचरैः॥२३१॥
तथा सुखप्रभावाभ्यामुपर्युपरितोऽधिकाः।
हीनास्तथैव ते मानगति देहपरिग्रहैः॥२३२॥
इति संसारिणां क्षेत्रं सर्वलोकः प्रकीर्तितः।
सिद्धानां तु पुनः क्षेत्रमूर्ध्वलोकान्त इष्यते॥२३३॥

अर्थ- जो वैमानिक देव हैं वे ऊर्ध्वलोक में ऊपर-ऊपर स्थित विमानों के पटलों में निवास करते हैं। ऊर्ध्वलोक में त्रेशठ पटल हैं जो कि इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक इन तीन प्रकार के पटलों से युक्त हैं। सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ट, शुक्र-महाशुक्र, सतार सहस्रार, आनत-प्राणत और आरण-अच्युत इन आठ युगलों के सोलह कल्प हैं। इनके आगे ऊपर-ऊपर नौ ग्रैवेयकों के नौ पटल हैं, उनके ऊपर नौ अनुदिश विमानों का एक पटल है, और इसके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानों का एक पटल है। अपने-अपने कर्मों के अनुसार वैमानिक देव इनमें उत्पन्न होते हैं। ये वैमानिक देव द्युति, लेश्या की

विशुद्धता, आयु, इन्द्रिय तथा अवधिज्ञान का विषय, सुख और प्रभाव से ऊपर-ऊपर अधिकता को लिये हैं और मान, गति, देह तथा परिग्रह की अपेक्षा ऊपर-ऊपर हीनता को लिये हुए हुए हैं। इस तरह यह समस्त लोक संसारी जीवों का क्षेत्र कहा गया है। सिद्ध जीवों-का क्षेत्र ऊर्ध्वलोक का अन्तभाग माना गया है।

सामान्यादेकधा जीवो बद्धो मुक्तस्ततो द्विधा।
स एवासिद्धनोसिद्धसिद्धत्वात् कीर्त्यते त्रिधा॥२३४॥
श्वाभ्रतिर्यग्नरामर्त्यविकल्पात् स चतुर्विधः।
प्रशमक्षयतद्द्वन्द्वपरिणामोदयोद्भवात्॥२३५॥
भावात्पञ्चविधत्वात् स पञ्चभेदः प्ररूप्यते।
षड्मार्गगमनात्षोढा सप्तधा सप्तभङ्गतः॥२३६॥
अष्टधाष्टगुणात्मत्वादष्टकर्मवृतोऽपि च।
पदार्थ नवकात्मत्वान्नवधा दशधा तु सः।
दशजीव भिदात्मत्वादिति चिन्त्यं यथागमम्॥२३७॥

(षट्पदम्)

अर्थ- सामान्य की अपेक्षा जीव एक प्रकार का है, बद्ध और मुक्त की अपेक्षा दो प्रकार का है, असिद्ध, नोसिद्ध-जीवन्मुक्त-अरहंत और सिद्ध की अपेक्षा तीन प्रकार का है, नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव के भेद से चार प्रकार का है, उपशम, क्षय, क्षयोपशम परिणाम और उदय से होनेवाले भावों से पञ्चरूप होने के कारण पाँच प्रकार का है, चार दिशाओं और ऊपर, नीचे इस तरह छह दिशाओं में गमन करने के कारण छह प्रकार का है, स्यादस्ति, स्यात् नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिअवक्तव्य, स्याद्नास्तिअवक्तव्य और स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्य इन सात

भङ्गरूप होने से सात प्रकार का है, ज्ञानादि आठगुणों से तन्मय होने के कारण आठ प्रकार का है; जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ पदार्थरूप होने से नौ प्रकार का है तथा जीवसमास के प्रकरण में कहे गये दश भेदरूप होने से दश प्रकार का है। इस तरह आगम के अनुसार और भी भेदों का विचार किया जा सकता है।

इत्येतज्जीवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत्॥२३८॥

अर्थ- इस तरह शेष छह तत्त्वों के साथ जो जीवतत्त्व की श्रद्धा करता है, उसे जानता है और उससे उपेक्षा कर चारित्र धारण करता है वह निश्चय से निर्वाण को प्राप्त होता है।

इस तरह श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसार में जीवतत्त्व का वर्णन करनेवाला दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

तृतीयाधिकार

अजीवाधिकार

मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञावाक्य

अनन्त केवलज्योतिः प्रकाशितजगत्त्रयान्।
प्रणिपत्य जिनान् सर्वानजीवः संप्रचक्ष्यते॥१॥

अर्थ- अनन्त केवलज्ञानरूपी ज्योति के द्वारा तीनों जगत् को प्रकाशित करने वाले समस्त अरहन्तों को नमस्कार कर अजीवतत्त्व का वर्णन किया जाता है।

धर्माधर्मावथाकाशं तथा कालश्च पुद्गलाः।
अजीवाः खलु पञ्चैते निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः॥२॥

अर्थ- धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल, ये पाँच अजीव सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कहे गये हैं।

एते धर्मादयः पञ्च जीवाश्च प्रोक्तलक्षणाः।
षड् द्रव्याणि निगद्यन्ते द्रव्ययाथात्म्य वेदिभिः॥३॥

अर्थ- ये धर्मादिक पाँच अजीव और जिनका लक्षण पहले कहा जा चुका है। ऐसे जीव ये छह, द्रव्य के यथार्थस्वरूप को जाननेवाले जिनेन्द्र भगवान के द्वारा द्रव्य कहे जाते हैं।

विना कालेन शेषाणि द्रव्याणि जिनपुङ्गवैः।
पञ्चास्तिकायाः कथिताः प्रदेशानां बहुत्वतः॥४॥

अर्थ- काल के विना शेष पाँच द्रव्य, प्रदेशों की अधिकता के कारण जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा अस्तिकाय कहे गये हैं।

समुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं क्षीणकल्मषाः।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं वदन्ति जिनपुङ्गवाः॥५॥

अर्थ- वीतराग जिनेन्द्र भगवान्, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त अथवा और पर्यायों से युक्त पदार्थ को द्रव्य कहते हैं।

द्रव्यस्य स्यात्समुत्पादश्चेतनस्येतरस्य च।
भावान्तरपरिप्राप्तिर्निजां जातिमनुज्झतः॥६॥

अर्थ- अपनी जाति को नहीं छोड़ते हुए चेतन तथा अचेतन द्रव्य को जो अन्य पर्याय की प्राप्ति होती है वह उत्पाद कहलाता है।

स्वजातेरविरोधेन द्रव्यस्य द्विविधस्य हि।
विगमः पूर्वभावस्य व्यय इत्यभिधीयते॥७॥

अर्थ- अपनी जाति का विरोध न करते हुए चेतन अचेतन द्रव्य को पूर्व-पर्याय का जो नाश है वह व्यय कहलाता है।

समुत्पादव्ययाभावो यो हि द्रव्यस्य दृश्यते।
अनादिना स्वभावेन तद् ध्रौव्यं ब्रुवते जिनाः॥८॥

अर्थ- अनादि स्वभाव के कारण द्रव्य में जो उत्पाद और व्यय का अभाव है। उसे जिनेन्द्र भगवान् ध्रौव्य कहते हैं।

गुणो द्रव्यविधानं स्यात् पर्यायो द्रव्य विक्रिया।
द्रव्यं ह्ययुतसिद्धं स्यात्समुदायस्तयोर्द्वयोः॥९॥

अर्थ- द्रव्य की जो विशेषता है उसे गुण कहते हैं और द्रव्य का जो विकार है वह पर्याय कहलाता है। द्रव्य उन दोनों गुणपर्यायों का अपृथक् सिद्ध-समुदाय है।

सामान्यमन्वयोत्सर्गौ शब्दाः स्युर्गुणवाचकाः।
व्यतिरेको विशेषश्च भेदः पर्यायवाचकाः॥१०॥

अर्थ- सामान्य, अन्वय और उत्सर्ग ये गुणवाचक शब्द हैं तथा व्यतिरेक, विशेष और भेद ये पर्याय शब्द कहे गये हैं।

गुणैर्विना न च द्रव्यं विना द्रव्याच्च नो गुणाः।
द्रव्यस्य च गुणानां च तस्मादव्यतिरिक्तता॥११॥

अर्थ- गुणों के विना द्रव्य और द्रव्य के विना गुण नहीं होते, इसलिये द्रव्य और गुणों में अभेद है।

न पर्यायाद्विना द्रव्यं विना द्रव्यान्न पर्ययः।
वदन्त्यनन्यभूतत्त्वं द्वयोरपि महर्षयः॥१२॥

अर्थ- पर्याय के विना द्रव्य और द्रव्य के विना पर्याय नहीं होती, इसलिये महर्षि दोनों में अभिन्नता कहते हैं।

न च नाशोऽस्ति भावस्य न चाभावस्य सम्भवः।
भावाः कुर्युर्व्ययोत्पादौ पर्यायेषु गुणेषु च॥१३॥

अर्थ- सत् का नाश और असत् की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये पर्याय ही पर्यायों और गुणों में व्यय तथा उत्पाद को करते हैं।

द्रव्याण्येतानि नित्यानि तद्भावान्न व्ययन्ति यत्।
प्रत्यभिज्ञानहेतुत्वं तद्भावस्तु निगद्यते॥१४॥

अर्थ- ये द्रव्य नित्य हैं क्योंकि अपने स्वभाव से नष्ट नहीं होते। अपना स्वभाव ही प्रत्यभिज्ञान का कारण कहा जाता है।

इयत्तां नातिवर्तन्ते यतः षडिति जातुचित्।
अवस्थितत्त्वमेतेषां कथयन्ति ततो जिनाः॥१५॥

अर्थ- क्योंकि ये द्रव्य कभी भी 'छह हैं' इस सीमा का उल्लङ्घन नहीं करते इसलिये जिनेन्द्र भगवान् उनके अवस्थितपने को कहते हैं।

शब्दरूप रसस्पर्शगन्धात्यन्तव्युदासतः।
पञ्च द्रव्याण्यरूपाणि रूपिणः पुद्गलाः पुनः॥१६॥

अर्थ- शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध का अत्यन्त अभाव होने से पाँच द्रव्य अरूपी हैं और उनके सद्भाव से पुद्गल द्रव्य रूपी है।

धर्माधर्मान्तरिक्षाणां द्रव्यमेकत्वमिष्यते।
कालपुद्गलजीवानामनेकद्रव्यता मता॥१७॥

अर्थ- धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं तथा काल, पुद्गल और जीवद्रव्यों में अनेकता मानी गई है।

धर्माधर्मौ नभः कालश्चत्वारः सन्ति निःक्रियाः।
जीवाश्च पुद्गलाश्चैव भवन्त्येतेषु सक्रियाः॥१८॥

अर्थ- इन द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं तथा जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य सक्रिय हैं।

एकस्य जीवद्रव्यस्य धर्माधर्मास्तिकाययोः।
असंख्येयप्रदेशत्वमेतेषां कथितं पृथक्॥१९॥
संख्येयाश्चाप्यसंख्येया अनन्ता यदि वा पुनः।
पुद्गलानां प्रदेशाः स्युरनन्ता वियतस्तु ते॥२०॥

कालस्य परमाणोस्तु द्वयोरप्येतयोः किल।
एकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वमिष्यते॥२१॥

अर्थ- एक जीवद्रव्य, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय इनमें प्रत्येक के असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गल द्रव्य के प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनन्त भी होते हैं। आकाश के प्रदेश अनन्त हैं। काल द्रव्य और परमाणु ये दोनों एकप्रदेशी हैं अतः इन्हें प्रदेशरहित माना जाता है।

लोकाकाशेऽवगाहः स्याद् द्रव्याणां न पुनर्बहिः।
लोकालोकविभागः स्यादत एवाम्बरस्य हि॥२२॥
लोकाकाशे समस्तेऽपि धर्माधर्मास्तिकाययोः।
तिलेषु तैलवत्प्राहुरवगाहं महर्षयः॥२३॥
संहाराच्च विसर्पाच्च प्रदेशानां प्रदीपवत्।
जीवस्तु तदसंख्येय भागादीनवगाहते॥२४॥
लोकाकाशस्य तस्यैकप्रदेशादींस्तथा पुनः।
पुद्गला अवगाहन्ते इति सर्वज्ञशासनम्॥२५॥
अवगाहन सामर्थ्यात्सूक्ष्मत्व परिणामिनः।
तिष्ठन्त्येक प्रदेशेऽपि बहवोऽपि हि पुद्गलाः॥२६॥
एकापवरकेऽनेकप्रकाशस्थितिदर्शनात्।
न च क्षेत्रविभागः स्यान्न चैक्यमवगाहिनाम्॥२७॥
अल्पेधिकरणे द्रव्यं महीयो नावतिष्ठते।
इदं न क्षमते युक्तिं दुःशिक्षितकृतं वचः॥२८॥
अल्पक्षेत्रे स्थितिर्दृष्टा प्रचयस्य विशेषतः।
पुद्गलानां बहूनां हि करीषपटलादिषु॥२९॥

अर्थ- द्रव्यों का अवगाह लोकाकाश में है, बाहर नहीं है। इसी से आकाश में लोक और अलोक का विभाग होता है। जितने आकाश में सब द्रव्यों का अवगाह है उतना आकाश लोक कहलाता है और शेष अलोक कहलाता है। महर्षि, धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अवगाह तिलों में तैल के समान समस्त लोकाकाश में कहते हैं। प्रदीप के समान प्रदेशों में संकोच और विस्तार होने के कारण जीव, लोक के असंख्येय भाग को आदि लेकर समस्त लोक में रहता है। पुद्गल द्रव्य, लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर समस्त लोकाकाश में स्थित हैं ऐसा सर्वज्ञ भगवान का कथन है। दूसरे प्रदेशों के लिये स्थान देने की सामर्थ्य होने से सूक्ष्म परिणमन करनेवाले बहुत पुद्गल लोकाकाश के एक प्रदेश में रह जाते हैं। एक घर में अनेक दीपकों के प्रकाश की स्थिति देखी जाती है इसलिये अवगाहन करनेवाले द्रव्यों का क्षेत्र जुदा-जुदा नहीं होता और न उन द्रव्यों में एकरूपता आती है। "छोटे अधिकरण में बहुत बड़ा द्रव्य नहीं रह सकता" ऐसा अज्ञानी जनों का कहना युक्ति को प्राप्त नहीं है क्योंकि छोटे क्षेत्र में भी सन्निवेश की विशेषता से बहुत से पुद्गलों की स्थिति देखी जाती है। जैसे गोबर के उपला आदि में धूम के बहुत से प्रदेशों की स्थिति देखी जाती है।

धर्मस्य गतिरत्र स्यादधर्मस्य स्थितिर्भवेत्।
उपकारोऽवगाहस्तु नभसः परिकीर्तितः॥३०॥
पुद्गलानां शरीरं वाक् प्राणापानौ तथा मनः।
उपकारः सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा॥३१॥
परस्परस्य जीवानामुपकारो निगद्यते।

उपकारस्तु कालस्य वर्तना परिकीर्तिता॥३२॥

अर्थ- इन द्रव्यों में धर्मद्रव्य का उपकार गति है, अधर्मद्रव्य का उपकार स्थिति है, आकाशद्रव्य का उपकार अवगाह-स्थान देना है, पुद्गल द्रव्य का उपकार शरीर, वचन, श्वासोच्छवास, मन, सुख, दुःख, जीवन तथा मरण है, जीवों का उपकार परस्पर एक दूसरे का उपकार करना है और काल-द्रव्य का उपकार वर्तना-द्रव्यों को वर्ताना है।

क्रियापरिणतानां यः स्वयमेव क्रियावताम्।
आदधाति सहायत्वं स धर्मः परिगीयते॥३३॥
जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये गत्युपग्रहे।
जलवन्मत्स्यगमने धर्मः साधारणाश्रयः॥३४॥

अर्थ- स्वयं क्रियारूप परिणमन करनेवाले क्रियावान्-जीव और पुद्गलों-को जो सहायता देता है वह धर्मद्रव्य कहलाता है। जिस प्रकार मछली के चलने में जल साधारण निमित्त है उसी प्रकार जीव और पुद्गलों के चलने में धर्मद्रव्य साधारण निमित्त है।

स्थित्या परिणतानां तु सचिवत्वं दधाति यः।
तमधर्मं जिनाः प्राहुर्निरावरणदर्शनाः॥३५॥
जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये स्थित्युपग्रहे।
साधारणाश्रयोऽधर्मः पृथिवीव गवां स्थितौ॥३६॥

अर्थ- स्थितिरूप परिणमन करनेवाले जीव और पुद्गलों के लिये जो सहायता देता है उसे प्रत्यक्षज्ञानी जिनेन्द्र भगवान् अधर्मद्रव्य कहते हैं। जिस प्रकार गायों के ठहरने में पृथिवी साधारण निमित्त

है। उसी प्रकार स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गलों के लिये अधर्म द्रव्य साधारण निमित्त है। यहाँ साधारण निमित्त का अभिप्राय यह है कि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य प्रेरक निमित्त नहीं हैं।

आकाशन्तेऽत्र द्रव्याणि स्वयमाकाशतेऽथवा।
द्रव्याणामवकाशं वा करोत्याकाशमस्त्यतः॥३७॥
जीवानां पुद्गलानां च कालस्याधर्मधर्मयोः।
अवगाहनहेतुत्वं तदिदं प्रतिपद्यते॥३८॥

अर्थ- जिसमें सब द्रव्य अवकाश को प्राप्त हैं, अथवा जो स्वयं अवकाशरूप हो, अथवा जो सब द्रव्यों को अवकाश देता है उसे आकाश कहते हैं। यह आकाश जीव, पुद्गल, काल, धर्म और अधर्म द्रव्यों के अवगाहन में हेतुपने को प्राप्त होता है अर्थात् उन्हें अवगाहन में सहायता करता है।

क्रिया हेतुत्वमेतेषां निष्क्रियाणां न हीयते।
यतः खलु बलाधानमात्रमत्र विवक्षितम्॥३९॥

अर्थ- ये धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य स्वयं निष्क्रिय हैं फिर भी गति, स्थिति और अवगाहन में हेतु पड़ते हैं इसमें बाधा नहीं आती, क्योंकि यहाँ पर इन द्रव्यों में बलाधान मात्र की विवक्षा है अर्थात् गति, स्थिति तथा अवगाहरूप परिणमन पदार्थ स्वयं करते हैं, धर्मादिद्रव्य उनमें सिर्फ सहायता करते हैं। तात्पर्य यह है कि गति, स्थिति आदि के उपादान कारण जीव और पुद्गल स्वयं हैं, धर्मादिद्रव्य उनमें निमित्तकारण पड़ते हैं।

स कालो यन्निमित्ताः स्युः परिणामादिवृत्तयः।
वर्तनांलक्षणं तस्य कथयन्ति विपश्चितः॥४०॥

अर्थ- काल वह कहलाता है जिसके निमित्त से परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व होते हैं। विद्वान् लोग वर्तना को काल का लक्षण कहते हैं।

अन्तर्नीतैकसमया प्रतिद्रव्यविपर्ययम्।
अनुभूतिः स्वसत्तायाः स्मृता सा खलु वर्तना॥४१॥

अर्थ- प्रत्येक द्रव्य के एक-एक समयवर्ती परिणमन में जो स्वसत्ता को अनुभूति होती है उसे वर्तना कहते हैं।

आत्मना वर्तमानानां द्रव्याणां निजपर्ययैः।
वर्तनाकरणात्कालो भजते हेतुकर्तृताम्॥४२॥

अर्थ- सब द्रव्यें, अपनी-अपनी पर्यायोंरूप परिणमन स्वयं करती हैं फिर भी वर्तना का करण होने से काल द्रव्य हेतुकर्तृता को प्राप्त होता है।

न चास्य हेतुकर्तृत्वं निःक्रियस्य विरुध्यते।
यतो निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृत्वमिष्यते॥४३॥

अर्थ- यद्यपि कालद्रव्य स्वयं निष्क्रिय है तथापि इसकी हेतुकर्तृता विरुद्ध नहीं है क्योंकि निमित्तमात्र में भी हेतुकर्तृता मानी जाती है।

एकैकवृत्या प्रत्येकमणवस्तस्य निष्क्रियाः।
लोकाकाशप्रदेशेषु रत्नराशिरिव स्थिताः॥४४॥

अर्थ- उस काल द्रव्य के क्रियारहित प्रत्येक अणु रत्नों की राशि के समान लोकाकाश के प्रदेशों पर एक-एक कर स्थित हैं।

व्यावहारिककालस्य परिणामस्तथा क्रिया।
परत्वं चापरत्वं च लिङ्गान्याहुर्महर्षयः॥४५॥

अर्थ- परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व को महर्षियों ने व्यावहारिक काल का लिङ्ग-परिचायक चिह्न कहा है।

स्वजातेरविरोधेन विकारो यो हि वस्तुनः।
परिणामः स निर्दिष्टोऽपरिस्पन्दात्मको जिनैः॥४६॥

अर्थ- अपनी जाति का विरोध न करते हुए वस्तु का जो विकार है-परिणमन है उसे जिनेन्द्र भगवान ने परिणाम कहा है। यह परिणाम हलन चलनरूप नहीं होता।

प्रयोगविस्रसाभ्यां या निमित्ताभ्यां प्रजायते।
द्रव्यस्य सा परिज्ञेया परिस्पन्दात्मिका क्रिया॥४७॥

अर्थ- प्रेरणा और स्वभाव इन दो निमित्तों से द्रव्य में जो हलन चलनरूप परिणति होती है उसे क्रिया जानना चाहिये।

परत्वं विप्रकृष्टत्वमितरत्सन्निकृष्टता।
ते च कालकृते ग्राह्ये कालप्रकरणादिह॥४८॥

अर्थ- दूरी को परत्व और निकटता को अपरत्व कहते हैं। यहाँ कालद्रव्य का प्रकरण होने से दूरी और निकटता कालकृत ही ग्रहण करना चाहिये।

ज्योतिर्गतिपरिच्छिन्नो मनुष्य क्षेत्रवर्त्यसौ।
यतो न हि बहिस्तस्माज्ज्योतिषां गतिरिष्यते॥४९॥

अर्थ- ज्योतिष्क देवों की गति से विभक्त होनेवाला यह व्यवहारकाल मनुष्यक्षेत्र में ही होता है क्योंकि उससे बाहर ज्योतिष्क देवों में गति नहीं मानी जाती है।

भूतश्च वर्तमानश्च भविष्यन्निति च त्रिधा।
परस्परव्यपेक्षत्वाद् व्यपदेशो ह्यनेकशः॥५०॥

अर्थ- वह काल भूत, वर्तमान और भविष्यत के भेद से तीन प्रकार का होता है क्योंकि परस्पर की अपेक्षा से होनेवाला व्यवहार अनेक प्रकार का होता है।

यथानुसरतः पङ्क्ति बहूनामिह शाखिनाम्।
क्रमेण कस्यचित् पुंस एकैकानोकहं प्रति॥५१॥
संप्राप्तः प्राप्नुवन् प्राप्स्यन् व्यपदेश प्रजायते।
द्रव्याणामपि कालाणूंस्तथानुसरतामिमान्॥५२॥
पर्यायं चानुभवतां वर्तनाया यथाक्रमम्।
भूतादिव्यवहारस्य गुरुभिः सिद्धिरिष्यते॥५३॥
भूतादिव्यपदेशोऽसौ मुख्यो गौणो ह्यनेहसि।
व्यवहारिककालोऽपि मुख्यतामादधात्यसौ॥५४॥

अर्थ- जैसे बहुत से वृक्षों की पङ्क्ति लगी हुई है। कोई मनुष्य एक-एक वृक्ष के प्रति क्रम से गमन करता हुआ उस पङ्क्ति को पार कर रहा है। वह मनुष्य किसी वृक्ष के पास पहुँचता है, किसीको छोड़कर आया है और किसी को आगे प्राप्त करनेवाला है। इस तरह क्रमपूर्वक गति होने से उन वृक्षों में भूत, वर्तमान और भविष्य का व्यवहार जिस प्रकार होता है उसी प्रकार कालाणुओं का अनुसरण करने तथा पर्यायों का अनुभव करनेवाली द्रव्यों में क्रमपूर्वक वर्तना होने से भूत आदि व्यवहार की सिद्धि गुरुजनों द्वारा मानी जाती है। चूँकि यह भूत आदि का व्यपदेश

निश्चयकालद्रव्य में मुख्य और गौण होता है इसलिए यह व्यवहार काल भी मुख्यता और गौणता को धारण करता है।

भेदादिभ्यो निमित्तेभ्यः पूरणाद्गलनादपि।
पुद्गलानां स्वभावज्ञैः कथ्यन्ते पुद्गला इति॥५५॥

अर्थ- भेद आदि के निमित्त से जिनमें पूरण-नये परमाणुओं का संयोग और गलन-संयुक्त परमाणुओं का वियोग होता है उन्हें पुद्गलों के स्वभाव के ज्ञाता पुरुष पुद्गल कहते हैं।

अणुस्कन्धविभेदेन द्विविधाः खलु पुद्गलाः।
स्कन्धो देशः प्रदेशश्च स्कन्धस्तु त्रिविधो भवेत्॥५६॥

अर्थ- अणु और स्कन्ध के भेद से पुद्गल दो प्रकार के हैं। और स्कन्ध, देश तथा प्रदेश के भेद से स्कन्ध तीन प्रकार का है।

अनन्तपरमाणूनां संघातः स्कन्ध इष्यते।
देशस्तस्यार्द्धमर्द्धार्द्धं प्रदेशः परिकीर्तितः॥५७॥

अर्थ- अनन्त परमाणुओं का समूह स्कन्ध कहलाता है। स्कन्ध का आधा देश और देश का आधा प्रदेश कहा गया है।

भेदात्तथा च संघातात्तथा तदुभयादपि।
उत्पद्यन्ते खलु स्कन्धा भेदादेवाणवः पुनः॥५८॥

अर्थ- भेद से, संघात से, और भेद संघात-दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। परन्तु अणु भेद से ही उत्पन्न होते हैं।

आत्मादिरात्ममध्यश्च तथात्मान्तश्च नेन्द्रियैः।
गृह्यते योऽविभागी च परमाणुः स उच्यते॥५९॥

अर्थ- वही जिसका आदि है, वही जिसका मध्य है, वही जिसका अन्त है, इन्द्रियों से जिसका ग्रहण नहीं होता तथा जिसके अन्य विभाग नहीं हो सकते वह परमाणु कहा जाता है।

सूक्ष्मो नित्यस्तथान्तश्च कार्यलिङ्गस्य कारणम्।
एकगन्धरसश्चैकवर्णो द्विस्पर्शकश्च सः॥६०॥
वर्णगन्धरसस्पर्शसंयुक्ताः परमाणवः।
स्कन्धा अपि भवन्त्येते वर्णादिभिरनुज्झिताः॥६१॥

अर्थ- वह परमाणु सूक्ष्म होता है, नित्य होता है, अन्तिम होता है, कार्यलिङ्ग का कारण होता है, एक गन्ध, एक रस, एक वर्ण और दो स्पर्शों से युक्त होता है। परमाणु, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त स्कन्ध भी बन जाते हैं अथवा भेद अवस्था को पाकर स्कन्ध भी परमाणुरूप हो जाते हैं।

शब्द-संस्थान-सूक्ष्मत्व-स्थौल्य-बन्ध-समन्विता।
तमश्छायातपोद्योतभेदवन्तश्च सन्ति ते॥६२॥

अर्थ- वे पुद्गल शब्द, संस्थान, सूक्ष्मत्व, स्थौल्य, बन्ध, तम, छाया, आतप, उद्योत और भेद से युक्त होते हैं।

साक्षरोऽनक्षरश्चैव शब्दो भाषात्मको द्विधा।
प्रायोगिको वैस्रसिको द्विधाऽभाषात्मकोऽपि च॥६३॥

अर्थ- शब्द भाषात्मक और अभाषात्मक के भेद से दो प्रकार का है। उनमें भाषात्मक शब्द साक्षर और अनक्षर के भेद से दो प्रकार का है। संस्कृत, प्राकृतादि-भाषारूप जो शब्द हैं वे साक्षर शब्द कहलाते हैं तथा द्वीन्द्रियादिक जीवों के जो शब्द हैं वे अनक्षर शब्द हैं। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैस्रसिक के भेद से

दो प्रकार का होता है। मनुष्य के प्रयत्न से उत्पन्न मेरी, वीणा, वांसुरी तथा घंटा आदि का जो शब्द है वह वैस्रसिक है।

संस्थानं कलशादीनामित्थंलक्षणमिष्यते।
ज्ञेयमम्भोधरादीनामनित्थंलक्षणं तथा॥६४॥

अर्थ- संस्थान का अर्थ आकृति है। इसके दो भेद हैं-१ इत्थंलक्षण और दो अनित्थंलक्षण। कलश आदि पदार्थों का जो आकार कहा जा सकता है वह इत्थंलक्षण संस्थान है और मेघ आदि का जो आकार कहा नहीं जा सकता वह अनित्थंलक्षण संस्थान है।

अन्त्यमापेक्षिकञ्चेति सूक्ष्मत्वं द्विविधं भवेत्।
परमाणुषु तत्रान्त्यमन्यद्विल्वामलकादिषु॥६५॥

अर्थ- सूक्ष्मत्व दो प्रकार का होता है-१ अन्त्य और २ आपेक्षिक। इनमें से अन्त्य सूक्ष्मत्व परमाणुओं में होता है और दूसरा आपेक्षिक सूक्ष्मत्व बेल तथा आँवला आदि में पाया जाता है।

अन्त्यापेक्षिकभेदेन ज्ञेयं स्थौल्यमपि द्विधा।
महास्कन्धेऽन्त्यमन्यच्च वदरामलकादिषु॥६६॥

अर्थ- अन्त्य और आपेक्षिक के भेद से स्थौल्य भी दो प्रकार का जानना चाहिये। अन्त्य स्थौल्य लोकरूप महास्कन्ध में होता है और आपेक्षिक स्थौल्य वैर तथा आंवला आदि में होता है।

द्विधा वैस्रसिको बन्धस्तथा प्रायोगिकोऽपि च।
तत्र वैस्रसिको वह्निर्विद्युदम्भोधरादिषु।
बन्धः प्रायोगिको ज्ञेयो जतुकाष्ठादिलक्षणः॥६७॥

(षट्पदम्)

कर्मनो कर्मबन्धो यः सोऽपि प्रायोगिको भवेत्।

अर्थ- वैस्रसिक और प्रायोगिक के भेद से बन्ध दो प्रकार का है। उनमें से मेघ आदि में जो बिजलीरूप अग्नि का बन्ध है वह वैस्रसिक बन्ध है और लाख तथा लकड़ी आदि का जो बन्ध है वह प्रायोगिक बन्ध जानने के योग्य है। इसके सिवाय कर्म और नोकर्म का जो बन्ध है वह भी प्रायोगिक बन्ध कहलाता है।

तमो दृक्प्रतिबन्धः स्यात् प्रकाशस्य विरोधि च॥६८॥

अर्थ- जो नेत्रों को रोकनेवाला तथा प्रकाश का विरोधी है वह तम-अन्धकार कहलाता है।

प्रकाशावरणं यत्स्यान्निमित्तं वपुरादिकम्।
छायेति सा परिज्ञेया द्विविधा सा च जायते॥६९॥
तत्रैका खलु वर्णादिविकारपरिणामिनी।
स्यात्प्रतिबिम्बमात्रान्या जिनानामिति शासनम्॥७०॥

अर्थ- शरीर आदि निमित्तों के कारण जो प्रकाश का रुकना है उसे छाया जानना चाहिये। वह छाया दो प्रकार की होती है। उनमें एक छाया वर्णादि-विकाररूप परिणमने वाली है अर्थात् पदार्थ जिसरूप तथा जिस आकारवाला है उसका उसी रूप परिणमन होना जैसे दर्पण या पानी आदि में प्रतिबिम्ब पड़ता है। और दूसरी छाया मात्र प्रतिबिम्बरूप होती है। जैसे धूप या चाँदनी आदि में मनुष्य की छाया पड़ती है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का कथन है।

आतपोऽपि प्रकाशः स्यादुष्णश्चादित्यकारणः।
उद्योतश्चन्द्ररत्नादिप्रकाशः परिकीर्तितः॥७१॥

अर्थ- सूर्य के कारण जो उष्ण प्रकाश होता है वह आतप है तथा चन्द्रमा और रत्न आदि का जो प्रकाश है वह उद्योत कहा गया है।

उत्करश्चूर्णिका चूर्णः खण्डोऽणुचटनं तथा।
प्रतरश्चेति षडभेदा भेदस्योक्ता महर्षिभिः॥७२॥

अर्थ- उत्कर, चूर्णिका, चूर्ण, खण्ड, अणुचटन और प्रतर के भेद से महर्षियों ने भेद के छह भेद कहे हैं।

विसदृक्षाः सदृक्षा वा ये जघन्यगुणा न हि।
प्रयान्ति स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धं ते परमाणवः॥७३॥
संयुक्ता ये खलु स्वस्माद् द्वयाधिकगुणैर्गुणैः।
बन्धः स्यात्परमाणूनां तैरेव परमाणुभिः॥७४॥
बन्धेऽधिकगुणो यः स्यात्सोऽन्यस्य परिणामकः।
रेणोरधिकमाधुर्यो दृष्टः क्लिन्नगुडो यथा॥७५॥

अर्थ- जो परमाणु तुल्यजातीय हों, चाहे अतुल्यजातीय, किन्तु जघन्यगुण-वाले नहीं हैं वे स्निग्ध और रूक्षता के कारण बन्ध को प्राप्त होते हैं। जो परमाणु अपने से दो अधिक गुणों से संयुक्त हैं उन्हीं परमाणुओं के साथ-परमाणुओं का बन्ध होता है। बन्ध होने पर जो अधिक गुणवाला परमाणु है वह हीनगुणवाले परमाणु को अपनेरूप परिणमा लेता है। जैसे अधिक मिठास से युक्त गीला गुड़ धूलि को अपने रूप परिणमाता हुआ देखा गया है।

द्व्यणुकाद्याः किलानन्ताः पुद्गलानामनेकधा।
सन्त्यचित्तमहास्कन्धपर्यन्ता बन्धपर्ययाः॥७६॥

अर्थ- इस प्रकार द्व्यणुक को आदि लेकर जड़ महास्कन्ध पर्यन्त पुद्गलों की अनेक प्रकार की अनन्त बन्ध-पर्यायें हैं।

इतीहाजीवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत्॥७७॥

अर्थ- इस प्रकार इस लोक में जो छह अन्य तत्त्वों के साथ अजीव तत्त्व की श्रद्धा करता है, उसे जानता है और उसकी उपेक्षा करता है अर्थात् उसकी इष्टानिष्ट परिणति में राग-द्वेष नहीं करता है वह निर्वाण को प्राप्त होता है।

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसार में अजीवतत्त्व का वर्णन करनेवाला तीसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

चतुर्थ अधिकार

आस्रवतत्त्ववर्णन

मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञा

अनन्त केवल ज्योतिः प्रकाशितजगत्त्रयान्।
प्रणिपत्य जिनान् सर्वानास्रवः परिचक्ष्यते॥१॥

अर्थ- जिन्होंने अनन्त केवलज्ञानरूपी ज्योति के द्वारा तीनों जगत् को प्रकाशित किया है उन समस्त अरहन्तों को नमस्कार कर आस्रव का कथन किया जाता है।

कायवाङ्मनसां कर्म स्मृतो योगः स आस्रवः।
शुभः पुण्यस्य विज्ञेयो विपरीतश्च पाप्मनः॥२॥
सरसः सलिलावाहिद्वारमत्र जनैर्यथा।
तदास्रवणहेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते॥३॥
आत्मनोऽपि तथैवैषा जिनैर्योगप्रणालिका।
कर्मास्रवस्य हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते॥४॥

अर्थ- काय, वचन और मन की जो क्रिया है वह योग कहलाती है। जो योग है वही आस्रव है। शुभ और अशुभ के भेद से योग के दो भेद हैं। शुभयोग पुण्य कर्म का आस्रव है और अशुभ योग पाप कर्म का आस्रव है। जिस प्रकार तालाब में पानी लानेवाला द्वार पानी आने का कारण होने से मनुष्यों के द्वारा आस्रव कहा जाता है उसी प्रकार आत्मा की यह योगरूप प्रणाली भी कर्मास्रव का हेतु होने से जिनेन्द्रभगवान् के द्वारा आस्रव कही जाती है।

जन्तवः सकषाया ये कर्म ते साम्परायिकम्।
अर्जयन्त्युपशान्ताद्या ईर्यापथमथापरे॥५॥
साम्परायिकमेतत्स्यादार्द्रचर्मस्थरेणुवत्।
सकषायस्य यत्कर्मयोगानीतं तु मूर्च्छति॥६॥
ईर्यापथं तु तच्छुष्ककुड्यप्रक्षिप्तलोष्टवत्।
अकषायस्य यत्कर्म योगानीतं न मूर्च्छति॥७॥

अर्थ- जो जीव कषाय सहित हैं वे साम्परायिक कर्म का आस्रव करते हैं। और जो उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानवर्ती जीव हैं वे ईर्यापथ कर्म का आस्रव करते हैं। यह साम्परायिक आस्रव गीले चमड़े पर स्थित धूलि के समान है। कषाय सहित जीव के योगों के कारण जो कर्म आते हैं वे वृद्धि को प्राप्त होते हैं अर्थात् स्थिति और अनुभाग बन्ध पड़ने के कारण वे कर्म विस्तार को प्राप्त होते हैं। और जो ईर्यापथ आस्रव है वह सूखी दीवालपर फेंके हुए ढेले के समान है। कषाय रहित जीवों के योगों के कारण जो कर्म आते हैं वे वृद्धि को प्राप्त नहीं होते अर्थात् स्थिति और अनुभाग बन्ध के अभाव में वे विस्तार को प्राप्त नहीं होते। समयमात्र में निर्जीर्ण हो जाते हैं।

चतुः कषाय पञ्चाक्षैस्तथा पञ्चभिरव्रतैः।
क्रियाभिः पञ्चविंशत्या साम्परायिकमास्रवेत्॥८॥

अर्थ- चार कषाय, पांच इन्द्रिय, पाँच अव्रत और पच्चीस क्रियाओं के द्वारा यह जीव साम्परायिक आस्रव करता है।

तीव्रमन्दपरिज्ञातभावेभ्योऽज्ञातभावतः।
वीर्याधिकरणाभ्यां च तद्विशेषं विदुर्जिनाः॥९॥

अर्थ- तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरण के द्वारा आस्रव की विशेषता को जिनेन्द्रभगवान् जानते हैं।

तत्राधिकरणं द्वेधा जीवाजीवविभेदतः।
त्रिःसंरम्भसमारम्भारम्भैर्योगैस्तथा त्रिभिः॥१०॥
कृतादिभिस्त्रिर्भिश्चैव चतुर्भिश्च क्रुधादिभिः।
जीवाधिकरणस्येति भेदादष्टोत्तरं शतम्॥११॥
संयोगौ द्वौ निसर्गांस्त्रीन्निक्षेपाणां चतुष्टयम्।
निर्वर्तनाद्वयं चाहुर्भेदानित्यपरस्य तु॥१२॥

अर्थ- उन तीव्रादिक भावों में अधिकरण के दो भेद हैं-(१) जीवाधिकरण और (२) अजीवाधिकरण। जीवाधिकरण आस्रव संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ ये तीन, मनोयोग, वचनयोग, काययोग ये तीन, कृत, कारित, अनुमोदना ये तीन तथा क्रोधादि चार कषाय के भेद से एक सौ आठ प्रकार का है। और अजीवाधिकरण आस्रव के दो संयोग, तीन निसर्ग, चार निक्षेप और दो निर्वर्तना इस तरह ग्यारह भेद हैं।

मात्सर्यमन्तरायश्च प्रदोषो निह्नवस्तथा।
आसादनोपघातौ च ज्ञानस्योत्सूत्रचोदितौ॥१३॥
अनादरार्थश्रवणमालस्यं शास्त्रविक्रयः।
बहुश्रुताभिमानेन तथा मिथ्योपदेशनम्॥१४॥
अकालाधीतिराचार्योपाध्यायप्रत्यनीकता।
श्रद्धाभावोऽप्यनभ्यासस्तथा तीर्थोपरोधनम्॥१५॥
बहुश्रुतावमानश्च ज्ञानाधीतेश्च शाठ्यता।

इत्येते ज्ञानरोधस्य भवन्त्यास्रवहेतवः॥१६॥

अर्थ- मात्सर्य, अन्तराय, प्रदोष, निह्नव, ज्ञानका आसादन, उपघात, आगमविरुद्ध बोलना, अनादरपूर्वक अर्थ का सुनना, आलस्य, शास्त्र वेचना, अपने को बहुज्ञानी मानकर मिथ्या उपदेश देना, अकाल में अध्ययन करना, आचार्य और उपाध्याय के प्रतिकूल चलना, धर्म की आम्नाय में रुकावट डालना, बहुज्ञानी जीवों का तिरस्कार करना और ज्ञानाध्ययन की कुशलता से धूर्त्तता का का व्यवहार करना ये सब ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के हेतु हैं।

दर्शनस्यान्तरायश्च प्रदोषो निह्नवोऽपि च।
मात्सर्यमुपघातश्च तस्यैवासादनं तथा॥१७॥
नयनोत्पाटनं दीर्घस्वापिता शयनं दिवा।
नास्तिक्यवासना सम्यग्दृष्टिसंदूषणम् तथा॥१८॥
कुतीर्थानां प्रशंसा च जुगुप्सा च तपस्विनाम्।
दर्शनावरणस्यैते भवन्त्यास्रवहेतवः॥१९॥

अर्थ- दर्शन के विषय में अन्तराय, प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, उपघात और आसादन करना, नेत्रों का उखाड़ना, बहुत काल तक सोना, दिन में सोना, नास्तिकता का भाव रखना, सम्यग्दृष्टि जीव में दूषण लगाना, कुगुरुओं की प्रशंसा करना और समीचीन तपस्वी-गुरुओं से ग्लानि करना दर्शनावरण कर्म के आस्रव हैं।

दुःखं शोको वधस्तापः क्रन्दनं परिदेवनम्।
परात्मद्वितयस्थानि तथा च परपैशुनम्॥२०॥
छेदनं भेदनं चैव ताडनं दमनं तथा।

तर्जनं भर्त्सनं चैव सद्यो विशंसनं तथा॥२१॥
पापकर्मोपजीवित्वं वक्रशीलत्वमेव च।
शस्त्रप्रदानं विश्रम्भघातनं विषमिश्रणम्॥२२॥
शृङ्खलावागुरापाशरज्जुजालादिसर्जनम्।
धर्मविध्वंसनं धर्मप्रत्यूहकरणं तथा॥२३॥
तपस्विगर्हणं शीलव्रतप्रच्यावनं तथा।
इत्यसद्वेदनीयस्य भवन्त्यास्रवहेतवः॥२४॥

अर्थ- पराये अपने तथा दोनों में स्थित दुःख, शोक, वध, ताप, क्रन्दन और परिदेवन तथा दूसरे की चुगली, छेदना, भेदना, ताड़ना, दमन करना, डाँटना, झिड़कना, शीघ्रता से (अपराधका विचार किये विना ही) घात करना, पापकार्यों से जीविका करना, कुटिल स्वभाव रखना, शस्त्र देना, विश्वासघात करना, विष मिलाना, सांकल, जाल, पाश, रस्सी तथा जाल आदि का बनाना, धर्म का विध्वंस करना, धर्म के कार्यों में विघ्न करना, तवस्विजनों की निन्दा करना और शीलव्रत से च्युत करना ये सब असातावेदनीय के आस्रव के हेतु हैं।

दया दानं तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा।
वैयावृत्त्यं विनीतिश्च जिनपूजार्जवं तथा॥२५॥
सरागसंयमश्चैव संयमासंयमस्तथा।
भूतव्रत्यनुकम्पा च सद्वेद्यास्रवहेतवः॥२६॥

अर्थ- दया, दान, तप, शील, सत्य, शौच, इन्द्रियदमन, क्षमा, वैयावृत्त्य, विनय, जिनपूजा, सरलता, सरागसंयम, संयमासंयम,

भूतानुकम्पा और व्रत्यनुकम्पा ये सातावेदनीय के आस्रव के हेतु हैं।

केवलिश्रुतसंघानां धर्मस्य त्रिदिवौकसाम्।
अवर्णवादग्रहणं तथा तीर्थकृतामपि॥२७॥
मार्गसंदूषणं चैव तथैवोन्मार्गदेशनम्।
इति दर्शन मोहस्य भवन्त्यास्रव हेतवः॥२८॥

अर्थ- केवली, श्रुत, संघ, धर्म, देव तथा तीर्थंकरों का भी अवर्णवाद करना, मार्ग में दोष लगाना तथा उन्मार्ग-मिथ्यामार्ग का उपदेश देना ये दर्शनमोह के आस्रव के हेतु हैं।

स्यात्तीव्रपरिणामो यः कषायाणां विपाकतः।
चारित्र मोहनीयस्य स एवास्रवकारणम्॥२९॥

अर्थ- कषायों के उदय से जो तीव्र परिणाम होता है वही चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रव का कारण है।

उत्कृष्टमानता शैलराजीसदृशरोषता।
मिथ्यात्वं तीव्रलोभत्वं नित्यं निरनुकम्पता॥३०॥
अजस्रं जीवघातित्वं सततानृतवादिता।
परस्वहरणं नित्यं नित्यं मैथुन सेवनम्॥३१॥
कामभोगाभिलाषाणां नित्यं चातिप्रवृद्धता।
जिनस्यासादनं साधुसमयस्य च भेदनम्॥३२॥
मार्जारताम्रचूडादिपापीयः प्राणिपोषणम्।
नैः शील्यं च महारम्भपरिग्रहतया सह॥३३॥
कृष्णलेश्यापरिणतं रौद्रध्यानं चतुर्विधम्।

आयुषो नारकस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः॥३४॥

अर्थ- तीव्र मान करना, पाषाणरेखा के समान तीव्र क्रोध करना, मिथ्यात्व धारण करना, तीव्र लोभ करना, निरन्तर निर्दयता के भाव रखना, सदा जीवघात करना, निरन्तर झूठ बोलना, सदा परधन हरण करना, निरन्तर मैथुन सेवन करना, हमेशा कामभोग सम्बन्धी अभिलाषाओं को अत्यधिक बढ़ाना, जिनेन्द्रभगवान् में दोष लगाना, जिनागम का खण्डन करना, विलाव, मुर्गा आदि पापी जीवों का पोषण करना, शील रहित होना, बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह रखना, कृष्णलेश्यारूप परिणति करना तथा चार प्रकार का (हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द, परिग्रहानन्द) रौद्रध्यान करना ये सब नरकायु के आस्रव के हेतु हैं।

नैः शील्यं निर्व्रतत्त्वं च मिथ्यात्वं परवञ्चनम्।
मिथ्यात्व समवेतानामधर्माणां देशनम्॥३५॥
कृत्रिमागुरुकर्पूरकुङ्कुमोत्पादनं तथा।
तथा मानतुलादीनां कूटादीनां प्रवर्तनम्॥३६॥
सुवर्णमौक्तिकादीनां प्रतिरूपकनिर्मितिः।
वर्णगन्धरसादीनामन्यथापादनं तथा॥३७॥
तक्रक्षीरघृतादीनामन्यद्रव्यविमिश्रणम्।
वाचान्यदुत्काकरणमन्यस्य क्रियया तथा॥३८॥
कापोतनीललेश्यात्वमार्त्तध्यानं च दारुणम्।
तैर्यग्योनायुषो ज्ञेया माया चास्रवहेतवः॥३९॥

अर्थ- शीलरहित होना, व्रतरहित होना, मिथ्यात्व धारण करना, दूसरों को ठगना, मिथ्यात्व से सहित अधर्मों का उपदेश देना,

कृत्रिम अगुरु, कपूर और केशर का बनाना, झूठे नापतौल के बाँट तराजू तथा कूट आदि का चलाना, नकली सुवर्ण तथा मोती आदि का बनाना, वर्ण, गन्ध रस आदि को बदलकर अन्यरूप देना, छाँच, दूध तथा घी आदि में अन्य पदार्थों का मिलाना, वाणी तथा क्रिया द्वारा दूसरों की विषयाभिलाषा को उत्पन्न करना, कापोत और नील लेश्या से युक्त होना, तीव्र आर्तध्यान करना और मायाचार करना ये सब तिर्यञ्च आयु के आस्रव के हेतु जानना चाहिये।

ऋजुत्वमीषदारम्भपरिग्रहतया सह।
स्वभावमार्दवं चैव गुरुपूजनशीलता॥४०॥
अल्पसंक्लेशता दानं विरतिः प्राणिघाततः।
आयुषो मानुषस्येति भवन्त्या स्रवहेतवः॥४१॥

अर्थ- अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह के साथ परिणामों में सरलता रखना, स्वभाव से कोमल होना, गुरुपूजन का स्वभाव होना, अल्प संक्लेश का होना, दान देना और प्राणिघात से दूर रहना ये सब मनुष्यायु के आस्रव के कारण हैं।

अकामनिर्जरा बालतपो मन्दकषायता।
सुधर्मश्रवणं दानं तथायतनसेवनम्॥४२॥
सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः।
इति देवायुषो ह्येते भवन्त्यास्रवहेतवः॥४३॥

अर्थ- अकामनिर्जरा, बालतप, मन्दकषायता, समीचीन धर्म का सुनना, दान देना, देव-गुरु-धर्म तथा इनके सेवक इन छह

आयतनों की सेवा करना, सरागसंयम, सम्यक्त्व और देशसंयम ये सब देवायुके आस्रवके कारण हैं।

मनोवाक्कायवक्रत्वं विसंवादनशीलता।
मिथ्यात्वं कूटसाक्षित्वं पिशुनास्थिरचित्तता॥४४॥
विषक्रियेष्टकापाकदावाग्नीनां प्रवर्तनम्।
प्रतिमायतनोद्यानप्रतिश्रयविनाशनम्॥४५॥
चैत्यस्य च तथा गन्धमाल्यधूपादिमोषणम्।
अतितीव्रकषायत्वं पापकर्मोपजीवनम्॥४६॥
परुषासह्यवादित्वं सौभाग्यकारणं तथा।
अशुभस्येति निर्दिष्टा नाम्न आस्रवहेतवः॥४७॥

अर्थ- मन, वचन, काय की कुटिलता, विसंवाद करने का स्वभाव, मिथ्यात्व, झूठी गवाही देना, चुगली करना, चित्त का अस्थिर रखना, विष के प्रयोग, ईंट पकाना तथा दावाग्नि-वन में आग लगाने की प्रवृत्ति चलाना, मन्दिर सम्बन्धी उद्यान के भवन का विनाश करना, प्रतिमा को चढ़ाने योग्य गन्ध, माला तथा धूप आदि की चोरी करना, अत्यन्त तीव्र कषाय करना, पाप कार्यों से जीविका करना, कठोर ओर असह्य वचन बोलना तथा सौभाग्यवृद्धि के लिये वशीकरण आदि उपायों को मिलाना ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव के हेतु हैं।

संसारभीरुता नित्यमविसंवादनं तथा।
योगानां चार्जवं नाम्नः शुभस्यास्रवहेतवः॥४८॥

अर्थ- निरन्तर संसार से भयभीत रहना, सहधर्मीजनों के साथ विसंवाद-विरोध नहीं करना और योगों की सरलता रखना ये शुभनामकर्म के आस्रव के हेतु हैं।

विशुद्धिर्दर्शनस्योच्चैस्तपस्त्यागौ च शक्तितः।
मार्गप्रभावना चैव सम्पत्तिर्विनयस्य च॥४९॥
शीलव्रतानतीचारो नित्यं संवेगशीलता।
ज्ञानोपयुक्तताभीक्ष्णं समाधिश्च तपस्विनः॥५०॥
वैयावृत्त्यमनिर्हाणिः षड्विधावश्यकस्य च।
भक्तिः प्रवचनाचार्यजिनप्रवचनेषु च॥५१॥
वात्सल्यं च प्रवचने षोडशैते यथोदिताः।
नाम्नस्तीर्थकरत्वस्य भवन्त्यास्रवहेतवः॥५२॥

अर्थ- सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट विशुद्धता, शक्ति के अनुसार किये हुए तप और त्याग, मार्गप्रभावना, विनयसंपन्नता, शील और व्रतों में अतिचार नहीं लगाना, निरन्तर संसार सम्बन्धी दुःखों से भयभीत रहना, निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना, साधुसमाधि-मुनियों के तपश्चरण में बाधा आने पर उसे दूर करना, वैयावृत्त्य, छह आवश्यकों के करने में न्यूनता नहीं करना, प्रवचनभक्ति, आचार्य-भक्ति, अर्हद्भक्ति, बहुश्रुतभक्ति, और प्रवचनवात्सल्य-सहधर्मीजनों के साथ स्नेहभाव रखना ये सोलह, तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के कारण हैं।

असद्गुणानामाख्यानं सद्गुणाच्छादनं तथा।
स्वप्रशंसान्यनिन्दा च नीचैर्गोत्रस्य हेतवः॥५३॥

अर्थ- अपने अविद्यमान गुणों का कथन करना, दूसरे के विद्यमान गुणों को छिपाना, अपनी प्रशंसा करना तथा दूसरे की निन्दा करना ये नीच गोत्र के आस्रव हैं।

नीचैर्वृत्तिरनुत्सेकः पूर्वस्य च विपर्ययः।
उच्चैर्गोत्रस्य सर्वज्ञैः प्रोक्ता आस्रवहेतवः॥५४॥

अर्थ- नम्रवृत्ति, अहंकार का अभाव और पूर्व श्लोक में कहे हुए कारणों से विपरीत कारण, ये सर्वज्ञ भगवान के द्वारा उच्चगोत्रकर्म के आस्रव कहे गये है।

तपस्विगुरु चैत्यानां पूजालोपप्रवर्तनम्।
अनाथदीनकृपणभिक्षादिप्रतिषेधनम्॥५५॥
वधबन्धनिरोधैश्च नासिकाच्छेदकर्तनम्।
प्रमादाद्देवतादत्तनैवेद्यग्रहणं तथा॥५६॥
निरवद्योपकरणपरित्यागो वधोऽङ्गिनाम्।
दान भोगोपभोगादिप्रत्यूहकरणं तथा॥५७॥
ज्ञानस्य प्रतिषेधश्च धर्मविघ्न कृतिस्तथा।
इत्येवमन्तरायस्य भवन्त्या स्रवहेतवः॥५८॥

अर्थ- तपस्वी, गुरु और प्रतिमाओं की पूजा न करने की प्रवृत्ति चलाना, अनाथ, दीन तथा कृपण मनुष्यों को भिक्षा आदि देने का निषेध करना, वध-बन्धन तथा अन्य प्रकार की रुकावटों के साथ पशुओं की नासिका आदि का छेद करना, देवताओं को चढ़ाये हुए नैवेद्य का प्रमाद से ग्रहण करना, निर्दोष उपकरणों का परित्याग करना (जिन पीछी या कमण्डल आदि उपकरणों में कोई खराबी नहीं आई है उन्हें छोड़कर नये ग्रहण करना), जीवों का घात

करना, दान-भोग-उपभोग आदि में विघ्न करना, ज्ञान का प्रतिषेध करना-स्वाध्याय या पठन-पाठन का निषेध करना, तथा धर्मकार्यों में विघ्न करना ये सब अन्तराय-कर्म के आस्रव के हेतु हैं।

व्रतात् किलास्रवेत्पुण्यं पापं तु पुनरव्रतात्।
संक्षिप्यास्रवमित्येवं चिन्त्यतेऽतो व्रताव्रतम्॥५९॥

अर्थ- व्रत से पुण्यकर्म का और अव्रत से पापकर्म का आस्रव होता है इसलिये पूर्वोक्त आस्रव को संक्षिप्तकर अब आगे व्रत और अव्रत का विचार किया जाता है।

हिंसाया अनृताच्चैव स्तेयादब्रह्मतस्तथा॥
परिग्रहाच्च विरतिः कथयन्ति व्रतं जिनाः॥६०॥

अर्थ- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से निवृत्ति होने को जिनेन्द्र-भगवान् व्रत कहते हैं।

कार्त्स्न्येन विरतिः पुंसां हिंसादिभ्यो महाव्रतम्।
एकदेशेन विरतिर्विजानीयादणुव्रतम्॥६१॥

अर्थ- हिंसादि पाँच पापों से पुरुषों की सर्वदेश निवृत्ति होने को महाव्रत और एकदेश निवृति होने को अणुव्रत जानना चाहिये।

व्रतानां स्थैर्यसिद्ध्यर्थं पञ्च पञ्च प्रतिव्रतम्।
भावनाः सम्प्रतीयन्ते मुनीनां भावितात्मनाम्॥६२॥

अर्थ- आत्मस्वरूप की भावना करनेवाले मुनियों के लिये उक्त व्रतों की स्थिरता के अर्थ प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ कही जाती हैं।

वचोगुप्तिर्मनोगुप्तिरीर्यासमिति रेव च।
ग्रहनिक्षेपसमितिः पानान्नमवलोकितम्॥६३॥
इत्येताः परिकीर्त्यन्ते प्रथमे पञ्च भावनाः।

अर्थ- वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकित पान-भोजन ये पाँच प्रथम व्रत अहिंसाव्रत की भावनाएँ कही जाती हैं।

क्रोधलोभपरित्यागौ हास्यभीरुत्ववर्जने॥६४॥
अनुवीचिवचश्चेति द्वितीये पञ्च भावनाः।

अर्थ- क्रोधत्याग, लोभत्याग, हास्यत्याग, भयत्याग और अनुवीचि भाषण-आचार्य परम्परा के अनुसार भाषण करना ये पाँच सत्यव्रत की भावनाएँ हैं।

शून्यागारेषु वसनं विमोचितगृहेषु च॥६५॥
उपरोधाविधानं च भैक्ष्यशुद्धिर्यथोदिता।
ससधर्माविसंवादस्तृतीये पञ्च भावनाः॥६६॥

अर्थ- शून्यागारवास-वृक्षों की कोटर तथा पर्वतों की गुफा आदि प्राकृतिक निर्जन स्थानों में रहना, विमोचितगृहावास-जिन गृहों पर उनके स्वामियों ने अपना आधिपत्य छोड़ दिया है ऐसे गृहों में निवास करना, उपरोधाविधान-अपने स्थान पर किसी अन्य मुनि के ठहर जाने पर बाधा नहीं करना, यथोदित भैक्ष्यशुद्धि-चरणानुयोग में निरूपित विधि के अनुसार भिक्षा की शुद्धि रखना और ससधर्माविसंवाद-किसी उपकरण को लेकर

सहधर्मा बन्धुओं के साथ विवाद नहीं करना ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनाएँ हैं।

स्त्रीणां रागकथाश्रावोऽरमणीयाङ्गवीक्षणम्।
पूर्वरत्यस्मृतिश्चैव वृष्येष्टरसवर्जनम्॥६७॥
शरीरसंस्क्रियात्यागश्चतुर्थे पञ्च भावनाः।

अर्थ- स्त्रियों में राग बढ़ानेवाली कथाओं के सुनने का त्याग करना, स्त्रियों के रमणीय अङ्गों के देखने का त्याग करना, पूर्वकाल में भोगी हुई रति के स्मरण का त्याग करना, कामोत्तेजक गरिष्ठ रसों का त्याग करना और शरीर के संस्कार का त्याग करना ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ हैं।

मनोज्ञा अमनोज्ञाश्च ये पञ्चेन्द्रियगोचराः॥६८॥
रागद्वेषोज्झनान्येषु पञ्चमे पञ्च भावनाः।

अर्थ- स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों के जो इष्ट और अनिष्ट विषय हैं उनमें राग-द्वेष का त्याग करना अपरिग्रहव्रत की पांच भावनाएँ हैं।

इह व्यपाय हेतुत्वममुत्रावद्यहेतुताम्॥६९॥
हिंसादिषु विपक्षेषु भावयेच्च समन्ततः।
स्वयं दुःखस्वरूपत्वाद्दुःखहेतुत्वतोऽपि च॥७०॥
हेतुत्वाद्दुःखहेतुनामिति तत्त्वपरायणः।
हिंसादीन्यथवा नित्यं दुःखमेवेति भावयेत्॥७१॥

अर्थ- हिंसादि पापों के विषय में ऐसा विचार करना चाहिये कि ये इस लोक में अनेक प्रकार के दुःखों के कारण हैं तथा परलोक में पापबन्ध के हेतु हैं। अथवा ऐसा विचार करे कि ये हिंसादिक स्वयं

दुःखरूप हैं, दुःखों के कारण हैं, और दुःखों के कारणों के कारण हैं इसलिये दुःख ही हैं।

सत्वेषु भावयेन्मैत्रीं मुदितां गुणशालिषु।
क्लिश्यमानेषु करुणामुपेक्षां वामदृष्टिषु॥७२॥

अर्थ- संसार के समस्त प्राणियों में मैत्री भावना, गुणी मनुष्यों में प्रमोद-भावना, दुःखी जीवों में करुणाभावना और विपरीत मनुष्यों में माध्यस्थ्यभावना का चिन्तन करना चाहिये।

संवेगसिद्धये लोकस्वभावं सुष्ठु भावयेत्।
वैराग्यार्थं शरीरस्य स्वभावं चापि चिन्तयेत्॥७३॥

अर्थ- संवेग-संसार से भीरुता की सिद्धि के लिए अच्छी तरह संसार के स्वरूप की भावना करना चाहिये और वैराग्य के लिये शरीर के स्वभाव का विचार करना चाहिये।

द्रव्यभावस्वभावानां प्राणानां व्यपरोपणम्।
प्रमत्तयोगतो यत्स्यात् सा हिंसा संप्रकीर्तिता॥७४॥

अर्थ- प्रमाद के योग से द्रव्य और भावप्राणों का जो विघात करना है वह हिंसा कही गई है।

प्रमत्तयोगतो यत्स्यादसदर्थाभिभाषणम्।
समस्तमपि विज्ञेयमनृतं तत्समासतः॥७५॥

अर्थ- प्रमाद के योग से जो असत् पदार्थ का कथन होता है संक्षेप से उस सभी को असत्य जानना चाहिये।

प्रमत्तयोगात् यत्स्याददत्तार्थ परिग्रहः।

प्रत्येयं तत्खलु स्तेयं सर्वं संक्षेपयोगतः॥७६॥

अर्थ- प्रमाद के योग से जो बिना दिये हुए पदार्थ का ग्रहण करना है संक्षेप से उस सभी को चोरी जानना चाहिये।

मैथुनं मदनोद्रेकादब्रह्म परिकीर्तितम्।

अर्थ- काम के तीव्रोदय से जो अब्रह्म का सेवन होता है वह मैथुन कहलाता है।

ममेदमिति संकल्परूपा मूर्छा परिग्रहः॥७७॥

अर्थ- 'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्परूप मूर्छा को परिग्रह कहते हैं।

मायानिदानमिथ्यात्वशल्याभावविशेषतः।
अहिंसादिव्रतोपेतो व्रतीति व्यपदिश्यते॥७८॥

अर्थ- माया, निदान और मिथ्यात्व इन तीन शल्यों के अभाव से विशिष्ट होता हुआ जो अहिंसा आदि व्रतों से सहित है वह व्रती कहलाता है।

अनगारस्तथागारी स द्विधा परिकथ्यते।
महाव्रतोऽनगारः स्यादगारी स्यादणुव्रतः॥७९॥

अर्थ- अनगार और अगारी के भेद से वह व्रती दो प्रकार का कहा जाता है। महाव्रत का धारी अनगार कहलाता है और अणुव्रत का धारक अगारी कहा जाता है।

दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः समता तथा।

सप्रोषधोपवासश्च संख्या भोगोपभोगयोः॥८०॥
अतिथेः संविभागश्च व्रतानीमानि गेहिनः।
अपराण्यपि सप्त स्युरित्यमी द्वादशव्रताः॥८१॥

अर्थ- ऊपर कहे हुए पाँच अणुव्रतों के सिवाय गृहस्थ के दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोगभोगपरिमाण, और अतिथि-संविभाग ये सात और भी व्रत होते हैं। इस तरह गृहस्थ के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत सब मिलाकर बारह व्रत होते हैं।

अपरं च व्रतं तेषामपश्चिममिहेष्यते।
अन्ते सल्लेखनादेव्याः प्रीत्या संसेवनं च यत्॥८२॥

अर्थ- अन्त में सल्लेखनादेवी की जो प्रीतिपूर्वक सेवा करना है वह भी उन बारह व्रतों में से एक अन्य श्रेष्ठ व्रत माना जाता है।

सम्यक्त्वव्रतशीलेषु तथा सल्लेखनाविधौ।
अतीचाराः प्रवक्ष्यन्ते पञ्च पञ्च यथाक्रमम्॥८३॥

अर्थ- अब इनके आगे सम्यक्त्व, पाँच व्रत, सात शील और सल्लेखना-विधि में प्रत्येक पाँच-पाँच अतिचार क्रम से कहे जावेंगे।

शङ्कनं काङ्क्षणं चैव तथा च विचिकित्सनम्।
प्रशंसा परदृष्टीनां संस्तवश्चेति पञ्च ते॥८४॥

अर्थ- शङ्का- सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों में शङ्का करना अथवा सप्त भयरूप प्रवृत्ति करना, **काङ्क्षा-** सांसारिक फलों की इच्छा करना, **विचिकित्सा-** धर्मात्माजनों के मलिन

शरीर में ग्लानि करना, **परदृष्टिप्रशंसा**- अन्य मिथ्यादृष्टियों को मन में अच्छा समझना और **परदृष्टिसंस्तव**- अन्य मिथ्या-दृष्टियों की वचन द्वारा स्तुति करना ये पाँच सम्यक्त्व के अतिचार हैं।

बन्धो वधस्तथा छेदो गुरुभाराधिरोपणम्।
अन्नपाननिषेधश्च प्रत्येया इति पञ्च ते॥८५॥

अर्थ- बन्ध- खोटे अभिप्राय से किसी जीव-जन्तु को रस्सी आदि से बाँधना, **वध**- लाठी, चाबुक आदि से किसी को पीटना, **छेद**- नाक, कान, पूँछ आदि अंगों का छेदना, **गुरुभारारोपण**- शक्ति से अधिक भार लादना और **अन्नपान-निरोध**- समय पर आहार-पानी नहीं देना अथवा अल्पमात्रा में देना ये पाँच अहिंसाणुव्रत अतिचार हैं।

कूटलेखो रहोभ्याख्या न्यासापहरणं तथा।
मिथ्योपदेशसाकारमन्त्रभेदौ च पञ्च ते॥८६॥

अर्थ- कूटलेख- बनावटी लेख लिखना, **रहोभ्याख्या**- स्त्री-पुरुष की एकान्त चेष्टा को उनकी हँसी उड़ाने की भावना से प्रकट करना, **न्यासापहरण**- धरोहर को हड़प करनेवाले वचन कहना, **मिथ्योपदेश**- आगम के शब्दों का अन्यथा व्याख्यान करना और **साकार मन्त्रभेद**- किसी चेष्टा से दूसरे की गुप्त मन्त्रणा को जानकर प्रकट कर देना ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

स्तेनाहृतस्य ग्रहणं तथा स्तेनप्रयोजनम्।
व्यवहारः प्रतिच्छन्दैर्मानोन्मानोनवृद्धता॥८७॥
अतिक्रमो विरुद्धे च राज्ये सन्तीति पञ्च ते।

अर्थ- स्तेनाहृतग्रहण- चोर के द्वारा चुराकर लाई हुई वस्तुओं को जान-बूझकर ग्रहण करना, **स्तेनप्रयोजन**- स्वयं चोरी करते हुए भी चोर के लिये चोरी की प्रेरणा करना, **प्रतिछन्द व्यवहार**- असली वस्तुओं में नकली वस्तुएँ मिलाकर बेचना, **मानोन्मानोनवृद्धता**- नाँपने तौलने के वाट तथा गज वगैरह को कम बढ़ रखना और **विरुद्धराज्यातिक्रम**- राज्य में गड़बड़ी होने पर मर्यादा का उलङ्घन करना अर्थात् सस्ती वस्तुओं को अधिक मूल्य पर बेचना या अधिक मूल्यवाली वस्तुओं को सस्ते भाव से खरीदना अथवा राजकीय आज्ञा का उल्लंघन कर विरोधी राजा के राज्य से वस्तुओं का आयात-निर्यात करना ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

अनङ्गक्रीडितं तीव्रोऽभिनिवेशो मनोभुवः॥८८॥
इत्वयोर्गमनं चैव संगृहीतागृहीतयोः।
तथा परविवाहस्य करणं चेति पञ्च ते॥८९॥

अर्थ- अनङ्गक्रीडा- कामसेवन के लिये निश्चित अङ्गों के सिवाय अन्य अङ्गों से अप्राकृतिक क्रीडा करना, **कामतीव्राभिनिवेश**- काम सेवन की तीव्र लालसा रखना, **संगृहीतेत्वरिकागमन**- दूसरे के द्वारा ग्रहण की हुई कुलटा स्त्रियों के साथ संपर्क रखना और **अगृहीतेत्वरिकागमन**- दूसरे के द्वारा ग्रहण न की हुई कुलटा स्त्रियों से संपर्क रखना, और **परविवाहकरण**- अपने आश्रित पुत्र-पुत्रियों के सिवाय दूसरों का विवाह करना ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

हिरण्यस्वर्णयोः क्षेत्रवास्तुनोर्धनधान्योः।

दासीदासस्य कुप्यस्य मानाधिक्यानि पञ्च ते॥९०॥

अर्थ- सोना-चांदी, खेत-मकान, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्य-वर्तन तथा वस्त्र के प्रमाण का उल्लंघन करना ये पाँच परिग्रहपरिमाणुव्रत के अतिचार हैं।

तिर्यग्व्यतिक्रमस्तद्वदध ऊर्ध्वमतिक्रमौ।
तथा स्मृत्यन्तराधानं क्षेत्रवृद्धिश्च पञ्च ते॥९१॥

अर्थ- तिर्यग्व्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, ऊर्द्धव्यतिक्रम, स्मृत्यन्तराधान और क्षेत्रवृद्धि ये पाँच दिग्व्रत के अतिचार हैं।

अस्मिन्नानयनं देशे शब्दरूपानुपातनम्।
प्रेष्यप्रयोजनं क्षेपः पुद्गलानां च पञ्च ते॥९२॥

अर्थ- आनयन- सीमा के बाहर के क्षेत्र से किसी वस्तु को बुलाना, **शब्दानुपात**- सीमा के बाहर काम करने वाले लोगों को अपने शब्दों से सचेत करना, **रूपानुपात**- सीमा के बाहर काम करनेवाले लोगों को अपनी सूरत दिखलाकर काम में सावधान करना, **प्रेष्यप्रयोग**- सीमा के बाहर स्वयं न जाकर नौकर के द्वारा काम कराना और **पुद्गलक्षेप**- सीमा के बाहर कंकड़ पत्थर वगैरह फेंकना, पत्र भेजना या फोन करना आदि देशव्रत के पाँच अतिचार है।

असमीक्ष्याधिकरणं भोगानर्थक्यमेव च।
तथा कन्दर्पौत्कुच्य मौखर्याणि च पञ्च ते॥९३॥

अर्थ- असममीक्ष्याधिकरण- निज का प्रयोजन अल्प होने पर भी अधिक आरम्भ करना, **भोगानर्थक्य-** भोगोपभोग की निरर्थक

वस्तुओं का संग्रह करना, **कन्दर्प-** राग से मिश्रित अशिष्ट वचन बोलना, **कौत्कुच्य-** अशिष्ट बचन बोलते हुए हाथ आदि अङ्गों की कुत्सित चेष्टा करना-खोटे संकेत करना और **मौखर्य-** आवश्यकता से अधिक बोलना-निरर्थक गप्प मारना ये पाँच अनर्थ-दण्डव्रत के अतिचार हैं।

त्रीणि दुःप्रणिधानानि वाङ्मनःकायकर्मणाम्।
अनादरोऽनुपस्थानं स्मरणस्येति पञ्च ते॥९४॥

अर्थ- वचनदुःप्रणिधान- मन्त्र या पाठ आदि का अशुद्ध उच्चारण करना, **मनोदुःप्रणिधान-** मन को स्थिर नहीं रखना, **कायदुःप्रणिधान-** शरीर को हिलना-डुलाना, इधर-उधर देखना, तथा आसन बदलना आदि, **अनादर-** मित्रों की गोष्ठी छोड़कर अनादरपूर्वक सामायिक करना तथा **स्मरणानुपस्थान-** पाठ वगैरह की स्मृति नहीं रखना ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

संस्तरोत्सर्जनादानमसंदृष्टाप्रमार्जितम्।
अनादरोऽनुपस्थानं स्मरणस्येति पञ्च ते॥९५॥

अर्थ- भूख से व्याकुल होकर बिना देखे तथा विना शोधे हुए स्थान पर विस्तर आदि का बिछाना, मलमूत्र का छोड़ना, किसी वस्तु का रखना उठाना, अनादर के साथ उपवास करना और उपवास के दिन का स्मरण भूल जाना अथवा विधि का स्मरण नहीं रखना ये प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार हैं।

सचित्तस्तेन सम्बन्धस्तेन सम्मिश्रितस्तथा।

दुः पक्वोऽभिषवश्चैवमाहाराः पञ्च पञ्च ते॥९६॥

अर्थ- सचित्ताहार, सचित्त सम्बन्धाहार, सचित्तसंमिश्रिताहार, दुःपक्वाहार और अभिषवाहार ये पाँच भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार हैं।

कालव्यतिक्रमोऽन्यस्य व्यपदेशोऽथ मत्सरः।
सचित्ते स्थापनं तेन पिधानं चेति पञ्च ते॥९७॥

अर्थ- कालव्यतिक्रम- दान देने योग्य समय का उलङ्घनकर विलम्ब से दान देना, **अन्यव्यपदेश-** दूसरे दाता के द्वारा देने योग्य वस्तु का देना अथवा प्रमाद-वश स्वयं आहारादि न देकर दूसरे से दिलाना, **मत्सर-** दूसरे दातारों के यहाँ आहार हो जाने पर ईर्ष्याभाव करना, **सचित्तस्थापन-** हरे पत्ते आदि से निर्मित पात्र में रखा हुआ पदार्थ देना और **सचित्तपिधान-** हरे पत्ते आदि सचित्त वस्तुओं से ढके हुए आहार का देना ये पाँच अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार हैं।

पञ्चत्वजीविताशंसे तथा मित्रानुरञ्जनम्।
सुखानुबन्धनं चैव निदानं चेति पञ्च ते॥९८॥

अर्थ- पञ्चताशंसा- कष्ट अधिक होने पर जल्दी मरने की इच्छा रखना, **जीविताशंसा-** जीवित होने की इच्छा करना, **मित्रानुरज्जन-** मित्रों से राग करना, **सुखानुबन्ध-** पहले भोगे हुए सुख का स्मरण करना और **निदान-** आगामी भोगों की इच्छा करना ये पाँच सल्लेखना के अतिचार हैं।

परात्मनोरनुग्राहिधर्मवृद्धिकरत्वतः।

स्वस्योत्सर्जनमिच्छन्ति दानं नाम गृहिव्रतम्॥९९॥

अर्थ- निज और पर का उपकार करने वाले धर्म की वृद्धि का कारण होने से आत्मीय वस्तु का देना दान है, यह दान गृहस्थ का व्रत है।

विधिद्रव्यविशेषाभ्यां दातृपात्र विशेषतः।
ज्ञेयो दानविशेषस्तु पुण्यास्रवविशेषकृत्॥१००॥

अर्थ- विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से दान में विशेषता जानना चाहिये। दान की विशेषता विशिष्ट पुण्यास्रव को करने वाली है।

हिंसानृतचुराब्रह्मसङ्गसंन्यासलक्षणम्।
व्रतं पुण्यास्रवोत्थानं भावेनेति प्रपञ्चितम्॥१०१॥

अर्थ- हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह का त्याग करना जिसका लक्षण है ऐसे व्रत को भावपूर्वक धारण करना पुण्यास्रव को बढ़ाने वाला है।

हिंसानृतचुराब्रह्मसङ्गासंन्यासलक्षणम्।
चिन्त्यं पापास्रवोत्थानं भावेन स्वयमव्रतम्॥१०२॥

अर्थ- हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह का त्याग नहीं करना जिसका लक्षण है ऐसा अव्रत अपने भाव से स्वयं पापास्रव को बढ़ाने वाला है।

हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः।
हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे॥१०३॥

अर्थ- हेतु और कार्य की विशेषता से पुण्य और पाप की विशेषता होती है। शुभ-अशुभभाव पुण्य-पाप के हेतु हैं और सुख तथा दुःख पुण्य-पाप के कार्य हैं।

संसारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेषतः।
न नाम निश्चयेनास्ति विशेषः पुण्यपापयोः॥१०४॥

अर्थ- पुण्य और पाप दोनों ही समानरूप से संसार के कारण हैं इसलिये निश्चयनय से उनमें विशेषता नहीं है।

इतीहास्रवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत्॥१०५॥

अर्थ- इस तरह शेष छह तत्त्वों के साथ जो आस्रव तत्त्व की श्रद्धा करता है, उसे जानता है तथा उसकी उपेक्षा करता है वह निश्चय से निर्वाण को प्राप्त होता है।

इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसार में आस्रवतत्त्व का वर्णन करनेवाला चतुर्थ अधिकार पूर्ण हुआ।

पञ्चमाधिकार

बन्धतत्त्ववर्णन

मङ्गलाचरण

अनन्त केवल ज्योतिः प्रकाशितजगत्त्रयान्।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना बन्धतत्त्वं निरूप्यते॥१॥

अर्थ- अनन्त केवलज्ञानरूप ज्योति के द्वारा तीनों जगत् को प्रकाशित करने-वाले जिनेन्द्र भगवान को शिर से प्रणाम कर बन्ध तत्त्व का निरूपण किया जाता है।

बन्धस्य हेतवः पञ्च स्युर्मिथ्यात्वमसंयमः।
प्रमादश्च कषायश्च योगश्चेति जिनोदिताः॥२॥

अर्थ- मिथ्यात्व असंयम, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के पाँच हेतु जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये है।

ऐकान्तिकं सांशयिकं विपरीतं तथैव च।
आज्ञानिकं च मिथ्यात्वं तथा वैनयिकं भवेत्॥३॥

अर्थ- ऐकान्तिक, सांशयिक, विपरीत, आज्ञानिक और वैनयिक ये मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं।

यत्राभिसन्निवेशः स्यादत्यन्तं धर्मिधर्मयोः।
इदमेवेत्थमेवेति तदैकान्तिकमुच्यते॥४॥

अर्थ- जिसमें धर्म और धर्मी के विषय में 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार का एकान्त अभिप्राय होता है वह ऐकान्तिक मिथ्यात्व कहा

जाता है।

किं वा भवेन्न वा जैनो धर्मोऽहिंसादिलक्षणः।
इति यत्र मतिद्वैधं भवेत्सांशयिकं हि तत्॥५॥

अर्थ- 'जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ अहिंसादि लक्षण धर्म है या नहीं' इस प्रकार जिसमें बुद्धि का भ्रम रहता है वह सांशयिकमिथ्यात्व है।

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम्॥६॥

अर्थ- परिग्रह सहित भी गुरु होता है और केवली कवलाहारी होता है। इस प्रकार की जिसमें श्रद्धा होती है वह विपरीतमिथ्यात्व है।

हिताहितविवेकस्य यत्रात्यन्तमदर्शनम्।
यथा पशुवधो धर्मस्तदाज्ञानिकमुच्यते॥७॥

अर्थ- जिसमें हित और अहित के विवेक का अत्यन्त अभाव होता है, जैसे पशुवध धर्म है, वह आज्ञानिकमिथ्यात्व कहा जाता है।

सर्वेषामपि देवानां समयानां च तथैव च।
यत्र स्यात्समदर्शित्वं ज्ञेयं वैनयिकं हि तत्॥८॥

अर्थ- जिसमें सभी देवों और सभी धर्मों को समान देखा जाता है उसे वैनयिक मिथ्यात्व जानना चाहिये।

षड्जीवकाय पञ्चाक्षमनोविषयभेदतः।
कथितो द्वादशविधः सर्वविद्भिरसंयमः॥९॥

अर्थ- छहकाय के जीव तथा पाँच इन्द्रिय और मनसम्बन्धी विषय के भेद सर्वज्ञ भगवान् ने बारह प्रकार का असंयम कहा है।

शुद्ध्यष्टके तथा धर्मे क्षान्त्यादिदशलक्षणे।
योऽनुत्साहः स सर्वज्ञैः प्रमादः परिकीर्तितः॥१०॥

अर्थ- आठ शुद्धि तथा क्षमा आदि दश लक्षणों से युक्त धर्म के विषय में जो अनुत्साह है वह सर्वज्ञ भगवान के द्वारा प्रमाद कहा गया है।

षोडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिताः।
ईषद्भेदो न भेदोऽत्र कषायाः पञ्चविंशतिः॥११॥

अर्थ- सोलह कषाय और नौ नोकषाय कही गई हैं। इनमें जो थोड़ा भेद है वह नहीं लिया जाता है इसलिये दोनों मिलाकर पच्चीस कषाय कहलाती है।

चत्वारो हि मनोयोगा वाग्योगानां चतुष्टयम्।
पञ्च द्वौ च वपुर्योगा योगाः पञ्चदशोदिताः॥१२॥

अर्थ- चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग इस प्रकार सब मिलाकर पन्द्रह योग कहे गये हैं।

यज्जीवः सकषायत्वात्कर्मणो योग्यपुद्गलान्।
आदत्ते सर्वतो योगात् स बन्धः कथितो जिनैः॥१३॥

अर्थ- जीव कषाय से सहित होने के कारण कर्मों के योग्य पुद्गलों को योगवश जो सब ओर से ग्रहण करता है वह जिनेन्द्र भगवान के द्वारा बन्ध कहा गया है।

न कर्मात्मगुणोऽमूर्तेस्तस्य बन्धाप्रसिद्धितः।
अनुग्रहोपघातौ हि नामूर्तेः कर्तुमर्हति॥१४॥

अर्थ- कर्म, आत्मा का गुण नहीं है क्योंकि आत्मा का गुण होने से वह अमूर्तिक होता और अमूर्तिक का बन्ध नहीं हो पाता। अमूर्तिक कर्म, अमूर्तिक आत्मा का अनुग्रह और निग्रह-उपकार और अपकार करने में समर्थ नहीं होता।

औदारिकादिकार्याणां कारणं कर्म मूर्तिमत्।
न ह्यमूर्तेन मूर्तानामारम्भः क्वापि दृश्यते॥१५॥

अर्थ- औदारिक आदि कार्यों का कारण जो कर्म है वह मूर्तिमान् है क्योंकि अमूर्तिमान् पदार्थ के द्वारा मूर्तिमान् पदार्थों का आरम्भ कहीं भी दिखाई नहीं देता।

न च बन्धाप्रसिद्धिः स्यान्मूर्तैः कर्मभिरात्मनः।
अमूर्तेरित्यनेकान्तात्तस्य मूर्त्तित्वसिद्धितः॥१६॥
अनादिनित्यसम्बन्धात्सह कर्मभिरात्मनः।
अमूर्तस्यापि सत्यैक्ये मूर्तत्वमवसीयते॥१७॥
बन्धं प्रति भवत्यैक्यमन्योन्यानुपवेशतः।
युगपद् द्रावित स्वर्ण रौप्यवज्जीवकर्मणोः॥१८॥
तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात्।
न ह्यमूर्त्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी॥१९॥
गुणस्य गुणिनश्चैव न च बन्धः प्रसज्यते।
निर्मुक्तस्य गुणत्यागे वस्तुत्वानुपपत्तितः॥२०॥

अर्थ- अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्मों के साथ बन्ध असिद्ध नहीं है क्योंकि अनेकान्त से आत्मा में मूर्तिकपना सिद्ध है। कर्मों के साथ अनादिकालीन नित्य सम्बन्ध होने से आत्मा और कर्मों में एकत्व हो रहा है इसी एकत्व के कारण अमूर्तिक आत्मा में भी मूर्तिकपना माना जाता है। जिस प्रकार एक साथ पिघलाये हुए सुवर्ण और चाँदी का एक पिण्ड बनाये जाने पर परस्पर प्रदेशों के मिलने से दोनों में एकरूपता मालूम होती है उसी प्रकार बन्ध की अपेक्षा जीव और कर्मों के प्रदेशों के परस्पर मिलने से दोनों में एकरूपता मालूम होती है। आत्मा के मूर्तिक मानने में एक युक्ति यह भी है कि उसपर मदिरा का प्रभाव देखा जाता है इसलिये आत्मा मूर्तिक है क्योंकि मदिरा अमूर्तिक आकाश में मद को उत्पन्न नहीं करती। कर्म को यदि आत्मा का गुण माना जावे तो आत्मा कहलावेगा और गुण तथा गुणी का बन्ध होता नहीं है। इस तरह आत्मा का कर्म के साथ बन्ध नहीं हो सकेगा। मोक्ष अवस्था में आत्मा कर्म से निर्मुक्त होता है इसका अर्थ यह होगा कि आत्मा अपने ही गुण से निर्मुक्त हो गया, इस दशा में आत्मा का आत्मपना ही नष्ट हो जायगा क्योंकि गुण के अस्तित्व से ही वस्तु का अस्तित्व रहता है गुण के नष्ट हो जाने पर वस्तु का वस्तुत्व नहीं रहता।

प्रकृतिस्थितिबन्धौ द्वौ बन्धश्चानुभवाभिधः।
तथा प्रदेशबन्धश्च ज्ञेयो बन्धश्चतुर्विधः॥२१॥

अर्थ- प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशबन्ध के भेद से बन्ध चार प्रकार का जानना चाहिये।

ज्ञानदर्शनयो रोधौ वेद्यं मोहायुषी तथा।
नामगोत्रान्तरायाश्च मूलप्रकृतयः स्मृताः॥२२॥

अर्थ- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ मूलप्रकृतियाँ मानी गई हैं।

अन्याः पञ्च नव द्वे च तथाष्टाविंशतिः क्रमात्।
चतस्त्रश्च त्रिसंयुक्ता नवतिर्द्वे च पञ्च च॥२३॥

अर्थ- ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस आयु की चार, नाम की तेरानवे, गोत्र की दो और अन्तराय की पाँच इस प्रकार सब मिलाकर एक सौ अड़तालीस उत्तरप्रकृतियाँ हैं।

मतिः श्रुतावधी चैव मनः पर्यय केवले।
एषामावृत्तयो ज्ञानरोधप्रकृतयः स्मृताः॥२४॥

अर्थ- मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरण की प्रकृतियाँ हैं। ये क्रम से आत्मा के मतिज्ञान आदि गुणों को घातती हैं।

चतुर्णां चक्षुरादीनां दर्शनानां निरोधतः।
दर्शनावरणाभिख्यं प्रकृतीनां चतुष्टयम्॥२५॥
निद्रानिद्रा तथा निद्रा प्रचलाप्रचला तथा।
प्रचला स्यानगृद्धिश्च दृग्रोधस्य नव स्मृताः॥२६॥

अर्थ- चक्षुर्दर्शन आदि चार दर्शनों को रोकने से चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये

चार तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच निद्राएँ सब मिलाकर दर्शनावरणकर्म की नौ प्रकृतियाँ स्मरण की गई हैं।

द्विधा वेद्यसद्वेद्यं सद्वेद्यं च प्रकीर्तितम्।

अर्थ- असद्वेद्य और सद्वेद्य की अपेक्षा वेदनीयकर्म की दो प्रकृतियाँ हैं। जिसके उदय से यह जीव देवादि गतियों में प्राप्त सामग्री में सुख का अनुभव करे उसे सद्वेद्य कहते हैं और जिसके उदय से नरकादि गतियों में प्राप्त सामग्री में दुःख का अनुभव करे उसे असद्वेद्य कहते हैं।

त्रयः सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्व भेदतः॥२७॥
क्रोधो मानस्तथा माया लोभोऽनन्तानुबन्धिनः।
तथा त एव चाप्रत्याख्यानावरणसंज्ञिकाः॥२८॥
प्रत्याख्यानरुधश्चैव तथा संज्वलनाभिधाः।
हास्यं रत्यरती शोको भयं सह जुगुप्सया॥२९॥
नारीपुंषण्ढवेदाश्च मोहप्रकृतयः स्मृताः।

अर्थ- मोहनीयकर्म की मूल में २ प्रकृतियाँ हैं- १ दर्शनमोहनीय और २ चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं- १ मिथ्यात्वप्रकृति, २ सम्यक्त्वप्रकृति और ३ सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति। चारित्रमोहनीय के भी कषाय-वेदनीय और नोकषायवेदनीय की अपेक्षा दो भेद हैं। कषायवेदनीय के अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया लोभ और संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ के भेद से सोलह भेद हैं और नोकषाय के

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद की अपेक्षा नौ भेद हैं। सब मिलाकर मोहनीय-कर्म के अट्ठाईस भेद होते हैं।

श्वाभ्रतिर्यग्नृदेवायुर्भेदायुश्चतुर्विधम्॥३०॥

अर्थ- नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु के भेद से आयुकर्म के चार भेद हैं। इनके उदय से आत्मा नारकी आदि के शरीर में कैद रहती है।

चतस्रो गतयः पञ्च जातयः कायपञ्चकम्।
अङ्गोपाङ्गत्रयं चैव निर्माण प्रकृतिस्तथा॥३१॥
पञ्चधा बन्धनं चैव सङ्घातोऽपि च पञ्चधा।
समादिचतुरस्रं तु न्यग्रोधं स्वातिकुब्जकम्॥३२॥
वामनं हुण्डसंज्ञं च संस्थानमपि षड्विधम्।
स्याद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराजमेव च॥३३॥
नाराचमर्द्धनाराचं कीलकं च ततः परम्।
तथा संहननं षष्ठमसंप्राप्तसृपाटिका॥३४॥
अष्टधा स्पर्शनामापि कर्कशं मृदुलघ्वपि।
गुरु स्निग्धं तथा रूक्षं शीतमुष्णं तथैव च॥३५॥
मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः कषायः पञ्चधा रसः।
वर्णाः शुक्लादयः पञ्च द्वौ गन्धौ सुरभीतरौ॥३६॥
श्वभ्रादिगतिभेदात्स्यादानुपूर्वीचतुष्टयम्।
उपघातः पघातस्तथागुरुलघुर्भवेत्॥३७॥
उच्छ्वास आतपोद्योतौ शस्ताशस्ते नभोगती।
प्रत्येकत्रसपर्याप्तवादराणि शुभं स्थिरम्॥३८॥

सुस्वरं सुभगादेयं यशः कीर्तिः सहेतरैः।
तथा तीर्थकरत्वं च नामप्रकृतयः स्मृताः॥३९॥

अर्थ- चार गतियाँ, पाँच जातियाँ, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जकसंस्थान वामनसंस्थान और हुण्डकसंस्थान के भेद से छह प्रकार का संस्थान; वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तसृपाटिका के भेद से छह प्रकार का संहनन; कर्कश, मृदु लघु, गुरु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण के भेद से आठ प्रकार का स्पर्श, मधुर, अम्ल, कटुक, तिक्त और कषाय के भेद से पाँच प्रकार का रस; शुक्ल आदि के भेद से पांच प्रकार का वर्ण; सुगंध, दुर्गंध के भेद से दो प्रकार का गंध; नरकगत्यानुपूर्वी आदि के भेद से चार प्रकार का आनुपूर्वी; उपघात, परघात, अगुरुलघु, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति, प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, त्रस, स्थावर, पर्याप्तक, अपर्याप्तक, बादर, सूक्ष्म, शुभ, अशुभ, स्थिर, अस्थिर, सुस्वर दुःस्वर, सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशः कीर्ति और तीर्थंकरत्व ये नामकर्म की तेरानवे प्रकृतियाँ हैं।

गोत्रकर्म द्विधा ज्ञेयमुच्चनीचविभेदतः।

अर्थ- उच्च और नीच के भेद से गोत्रकर्म दो प्रकार का जानना चाहिये।

स्याद्दानलाभवीर्याणां परिभोगोपभोगयोः॥४०॥
अन्तरायस्य वैचित्र्यादन्तरायोऽपि पञ्चधा।

अर्थ- दान, लाभ, वीर्य, परिभोग और उपभोग सम्बन्धी अन्तराय की विचित्रता से अन्तरायकर्म भी पाँच प्रकार का होता है।

द्वे त्यक्त्वा मोहनीयस्य नाम्नः षड्विंशतिस्तथा॥४१॥
सर्वेषां कर्मणां शेषा बन्धप्रकृतयः स्मृताः।
अबन्धा मिश्रसम्यक्त्वे बन्धसंघातयोर्दश॥४२॥
स्पर्शे सप्त तथैका च गन्धेऽष्टौ रसवर्णयोः।

अर्थ- मोहनीय की दो और नामकर्म की छब्बीस प्रकृतियों को छोड़कर समस्त कर्मों की शेष प्रकृतियाँ बन्ध के योग्य मानी गई हैं। मोहनीय की सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा नामकर्म की बन्धन और संघात सम्बन्धी दश एवं स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण सम्बन्धी सोलह इस तरह छब्बीस प्रकृतियाँ अबन्धप्रकृतियाँ कही गई हैं।

वेद्यान्तराययोर्ज्ञानदृगावरणयोस्तथा॥४३॥
कोटीकोटयः स्मृतास्त्रिंशत्सागराणां परा स्थितिः।
मोहस्य सप्ततिस्ताः स्युर्विंशतिर्नामगोत्रयोः॥४४॥
आयुषस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागराणां परा स्थितिः।

अर्थ- वेदनीय, अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागर, मोहनीय की सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर, नाम और गोत्र की बीस कोड़ा कोड़ी सागर तथा आयु की तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

मुहूर्ता द्वादश ज्ञेया वेद्येऽष्टौ नामगोत्रयोः॥४५॥
स्थितिरन्तर्मुहूर्तस्तु जघन्या शेषकर्मसु।

अर्थ- वेदनीय की बारह मुहूर्त, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त तथा शेष समस्त कर्मों की अन्तर्मुहूर्त जघन्यस्थिति है।

विपाकः प्रागुपात्तानां यः शुभाशुभकर्मणाम्॥४६॥
असावनुभवो ज्ञेयो यथानाम भवेच्च सः।

अर्थ- पहले कहे हुए शुभ अशुभ कर्मों का जो विपाक है उसे अनुभव या अनुभाग जानना चाहिये। जिस कर्म का जैसा नाम है उसका वैसा ही अनुभव होता है।

घनाङ्गुलस्यासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिनः॥४७॥
एकद्वित्र्याद्यसंख्येय समय स्थितिकांस्तथा।
उष्णरूक्षहिमस्निग्धान्सर्ववर्णरसान्वितान्॥४८॥
सर्वकर्मप्रकृत्यर्हान् सर्वेष्वपि भवेषु यत्।
द्विविधान् पुद्गलस्कन्धान् सूक्ष्मान् योगविशेषतः॥४९॥
सर्वेष्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशकान्।
आत्मसात्कुरुते जीवः स प्रदेशोऽभिधीयते॥५०॥

अर्थ- जो धनाङ्गुल के असंख्यातवें भागप्रमाण एक क्षेत्र में स्थित हैं, जिनकी एक, दो, तीन आदि असंख्यात समयों की स्थिति है, जो उष्ण, रूक्ष, शीत और स्निग्ध स्पर्श से सहित हैं, समस्त वर्णों और समस्त रसों से सहित हैं, समस्त कर्म-प्रकृतियों के योग्य हैं, पुण्य और पाप के भेद से दो प्रकार के हैं, सूक्ष्म हैं, समस्त भवों में जिनका बन्ध होता है तथा जो समस्त आत्मप्रदेशों में अनन्तानन्तप्रदेशों को लिये हुए हैं ऐसे पुद्गलस्कन्धों को-कार्मणवर्गणा के परमाणुसमूह को यह जीव जो अपने आधीन करता है वह प्रदेशबन्ध कहलाता है।

शुभाशुभोपयोगाख्यनिमित्तो द्विविधस्तथा।
पुण्यपापतया द्वेधा सर्वं कर्म प्रभिद्यते॥५१॥

अर्थ- शुभोपयोग और अशुभोपयोग के भेद से निमित्त दो प्रकार का है। इसलिये निमित्त की द्विविधता से समस्त कर्म पुण्य और पाप के भेद से दो भेदों में विभक्त हो जाते हैं।

उचैर्गोत्रं शुभायूंषि सद्वेद्यं शुभनाम च।
द्विचत्वारिंशदित्येवं पुण्यप्रकृतयः स्मृताः॥५२॥

अर्थ- उच्चगोत्र, शुभआयु, सातावेदनीय और शुभनामकर्म इस तरह ब्यालीस पुण्यप्रकृतियाँ मानी गई हैं।

नीचैर्गोत्रमसद्वेद्यं श्वभ्रायुर्नाम चाशुभम्।
द्व्यशीतिर्घातिभिः सार्द्धं पापप्रकृतयः स्मृताः॥५३॥

अर्थ- नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, अशुभनाम तथा घातिया कर्मों की सैंतालीस प्रकृतियाँ सब मिलाकर ब्यालीस पापप्रकृतियाँ मानी गई हैं।

इत्येतद्बन्धतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत्॥५४॥

अर्थ- इसप्रकार शेष छह तत्त्वों के साथ जो बन्धतत्त्व की श्रद्धा करता है, उसे जानता है और उसकी उपेक्षा करता है अर्थात् उसके प्रति रागद्वेष का त्याग करता है वह निर्वाण को प्राप्त होता है।

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसार में बन्धतत्त्व का वर्णन करनेवाला पञ्चम अधिकार पूर्ण हुआ।

षष्ठ अधिकार

संवर तत्त्व वर्णन

मङ्गलाचरण

अनन्त केवल ज्योतिः प्रकाशितजगत्त्रयान्।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना संवरः संप्रचक्ष्यते॥१॥

अर्थ- अनन्त केवलज्ञानरूपी ज्योति के द्वारा जिन्होंने तीनों लोकों को प्रकाशित किया है ऐसे जिनेन्द्र भगवान को शिर से प्रणाम कर संवर तत्त्व का निरूपण किया जाता है।

यथोक्तानां हि हेतूनामात्मनः सति सम्भवे।
आस्रवस्य निरोधो यः स जिनैः संवरः स्मृतः॥२॥

अर्थ- संवर के जो हेतु कहे गये हैं उनके संभव होने पर आत्मा में जो आस्रव का निरोध होता है वह जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा संवर माना गया है।

गुप्तिः समितयो धर्मः परीषहजयस्तपः।
अनुप्रेक्षाश्च चारित्रं सन्ति संवरहेतवः॥३॥

अर्थ- गुप्ति, समिति, धर्म, परीषहजय, तप, अनुप्रेक्षा और चारित्र ये संवर के हेतु हैं।

योगानां निग्रहः सम्यग्गुप्तिरित्यभिधीयते।
मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः काय गुप्तिश्च सा त्रिधा॥४॥

अर्थ- योगों का अच्छी तरह निग्रह करना गुप्ति कहलाता है। वह गुप्ति मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के भेद से तीन प्रकार की है।

तत्र प्रवर्तमानस्य योगानां निग्रहे सति।
तन्निमित्तास्रवाभावात्सद्यो भवति संवरः॥५॥

अर्थ- गुप्ति में प्रवृत्ति करनेवाले मुनि के योगों का निग्रह हो जाता है, इसलिये योगनिमित्तक आस्रव का अभाव होने से शीघ्र ही संवर होता है।

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गभेदतः।
पञ्च गुप्तावशशक्तस्य साधोः समितयः स्मृताः॥६॥

अर्थ- जो साधु गुप्तियों के धारण करने में असमर्थ है उसके ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग के भेद से पाँच समितियाँ मानी गई हैं।

मार्गोद्योतोपयोगानामालम्ब्यस्य च शुद्धिभिः।
गच्छतः सूत्रमार्गेण स्मृतेर्या समितिर्यतेः॥७॥

अर्थ- मार्ग, प्रकाश, उपयोग तथा उद्देश्य की शुद्धिपूर्वक आगमोक्त विधि से गमन करनेवाले मुनि के ईर्यासमिति मानी गई है।

व्यलीकादिविनिर्मुक्तं सत्यासत्यामृषाद्वयम्।
वदतः सूत्रमार्गेण भाषासमितिरिष्यते॥८॥

अर्थ- जो मुनि असत्यादि से रहित, सत्य तथा अनुभय वचनों को आगम के कहे अनुसार बोलता है उसके भाषासमिति मानी जाती है।

पिण्डं तथोपधिं शय्यामुद्गमोत्पादनादिना।
साधोः शोधयतः शुद्धा ह्येषणा समितिर्भवेत्॥९॥

अर्थ- जो उद्गम तथा उत्पादन आदि दोषों का बचाव करते हुए भोजन, पीछी, कमण्डलु आदि उपकरण और शय्या की शुद्धि रखते हैं ऐसे मुनि के निर्दोष एषणासमिति होती है।

सहसा दृष्टदुर्मृष्टाप्रत्यवेक्षणदूषणम्।
त्यजतः समितिर्ज्ञेयादाननिक्षेपगोचरा॥१०॥

अर्थ- सहसादृष्ट- जल्दी देखना, दुर्मृष्ट- बुरी तरह परिमार्जन करना और अप्रत्यवेक्षण- देखना ही नहीं। इन दोषों का त्याग करनेवाले मुनि के आदान-निक्षेपणसमिति का जानना चाहिये।

समितिर्दर्शितानेन प्रतिष्ठापनगोचरा।
त्याज्यं मूत्रादिकं द्रव्यं स्थण्डिले त्यजतो यतेः॥११॥

अर्थ- इसी विधि से अर्थात् सहसादृष्ट, दुर्मृष्ट और अप्रत्यवेक्षण दोषों को बचाते हुए प्रासुक भूमि पर छोड़ने योग्य मूत्र आदि पदार्थों को छोड़नेवाले साधु के प्रतिष्ठापन अथवा उत्सर्गसमिति दिखलाई गई है।

इत्थं प्रवर्तमानस्य न कर्माण्यास्रवन्ति हि।
असंयमनिमित्तानि ततो भवति संवरः॥१२॥

अर्थ- इस तरह समितिपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले मुनि के असंयम के निमित्त से आने वाले कर्मों का आस्रव नहीं होता, अतः उनका संवर हो जाता है।

क्षमा मृद्वृजुते शौचं ससत्यं संयमस्तपः।
त्यागोऽकिञ्चनता ब्रह्म धर्मो दशविधः स्मृतः॥१३॥

अर्थ- क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चनता और ब्रह्मचर्य यह दश प्रकार का धर्म माना गया है।

क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानामत्यन्तं सति संभवे।
आक्रोशताडनादीनां कालुष्योपरमः क्षमा॥१४॥

अर्थ- गाली देना तथा मारना आदिक क्रोध की उत्पत्ति के बहुत भारी निमित्तों के रहते हुए भी कलुषता का अभाव होना क्षमा है।

अभावो योऽभिमानस्य परैः परिभवे कृते।
जात्यादीनामना वेशान्मदानां मार्दवं हि तत्॥१५॥

अर्थ- दूसरों के द्वारा अनादर किये जाने पर भी जाति आदिक मदों का आवेश न होने से जो अभिमान का अभाव है वह मार्दव धर्म है।

वाङ्मनःकाययोगानामवक्रत्वं तदार्जवम्।

अर्थ- वचन, मन और काय योगों की जो अवक्रता है वह आर्जव धर्म है।

परिभोगोपभोगत्वं जीवितेन्द्रियभेदतः॥१६॥
चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्तिः शौचमुच्यते।

अर्थ- प्राणीसम्बन्धी परिभोग और उपभोग तथा इन्द्रियसम्बन्धी परिभोग और उपभोग के भेद से लोभ चार प्रकार का होता है उसका अभाव होना शौच धर्म कहलाता है।

ज्ञानचारित्र शिक्षादौ स धर्मः सुनिगद्यते।
धर्मोपबृंहणार्थं यत्साधु सत्यं तदुच्यते॥१७॥

(षट्पदम्)

अर्थ- ज्ञान और चारित्र की शिक्षा आदि के विषय में धर्मवृद्धि के अभिप्राय से जो निर्दोष वचन कहे जाते हैं वह सत्यधर्म कहलाता है।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं प्राणिनां वधवर्जनम्।
समितौ वर्तमानस्य मुनेर्भवति संयमः॥१८॥

अर्थ- समितियों का पालन करनेवाले मुनि का इन्द्रियविषयों में विरक्त होना तथा जीवों के वध का त्याग करना संयमधर्म है।

परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम्।

अर्थ- कर्मों का क्षय करने के लिये जो तपा जावे वह तप कहलाता है।

त्यागस्तु धर्मशास्त्रादिविश्राणनमुदाहृतम्॥१९॥

अर्थ- धर्मशास्त्र आदि का देना त्यागधर्म कहा गया है।

ममेदमित्युपात्तेषु शरीरादिषु केषुचित्।
अभिसन्धिनिवृत्तिर्या तदाकिञ्चन्यमुच्यते॥२०॥

अर्थ- ग्रहण किये हुए शरीर आदि किन्हीं पदार्थों में 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का जो अभाव है वह आकिञ्चन्यधर्म कहलाता है।

स्त्री संसक्तस्य शय्यादेरनुभूताङ्गनास्मृतेः।

तत्कथायाः श्रुतेश्च स्याद्ब्रह्मचर्यं हि वर्जनात्॥२१॥

अर्थ- स्त्री से सम्बन्ध रखनेवाले शय्या आदिक पदार्थ, पूर्वकाल में भोगी हुई स्त्री का स्मरण तथा स्त्रीसन्बन्धी कथा का सुनना इनके त्याग करने से ब्रह्मचर्य-धर्म होता है।

इति प्रवर्तमानस्य धर्मे भवति संवरः।
तद्विपक्षनिमित्तस्य कर्मणो नास्रवे सति॥२२॥

अर्थ- इस प्रकार धर्म में प्रवृति करनेवाले मुनि के अधर्म निमित्तक कर्मों का आस्रव रुक जाता है इसलिये संवर होता है।

क्षुत्पिपासा च शीतोष्णदंश मत्कुणनग्नते।
अरतिः स्त्री च चर्या च निषद्या शयनं तथा॥२३॥
आक्रोशश्च वधश्चैव याचनालाभयोर्द्वयम्।
रोगश्च तृणसंस्पर्शस्तथा च मलधारणम्॥२४॥
असत्कार पुरस्कारं प्रज्ञाज्ञानमदर्शनम्।
इति द्वाविंशतिः सम्यक् सोढव्याः स्युः परीषहाः॥२५॥

अर्थ- क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमत्कुण, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शयन, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मलधारण, असत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परिषह अच्छी तरह सहन करने योग्य हैं।

संवरो हि भवत्येतानसंक्लिष्टेन चेतसा।
सहमानस्य रागादिनिमित्तास्रवरोधतः॥२६॥

अर्थ- इन परिषहों को संक्लेश रहित चित्त से सहन करनेवाले मुनि के रागादि के निमित्त से होनेवाला आस्रव रुक जाता है इसलिये संवर होता है।

तपो हि निर्जराहेतुरुत्तरत्र प्रचक्ष्यते।
संवरस्यापि विद्वांसो विदुस्तन्मुख्यकारणम्॥२७॥
अनेककार्यकारित्वं न चैकस्य विरुध्यते।
दाहपाकादिहेतुत्वं दृश्यते हि विभावसोः॥२८॥

अर्थ- तप निर्जरा का कारण है ऐसा आगे कहा जावेगा। परन्तु विद्वान् लोग उसे संवर का भी मुख्य कारण जानते हैं। एक ही वस्तु अनेक कार्यों को करनेवाली हो, इसमें विरोध नहीं है क्योंकि एक ही अग्नि गर्मी तथा भोजन पकाना आदि कार्यों का कारण देखी जाती है।

अनित्यं शरणाभावो भवश्चैकत्वमन्यता।
अशौचमास्रवश्चैव संवरो निर्जरा तथा॥२९॥
लोको दुर्लभता बोधः स्वाख्यातत्त्वं वृषस्य च।
अनुचिन्तनमेतेषामनुप्रेक्षाः प्रकीर्तिताः॥३०॥

अर्थ- अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्त्व इनका बार-बार चिन्तन करना बारह अनुप्रेक्षाएं कही गई हैं।

क्रोडीकरोति प्रथमं जातजन्तुमनित्यता।
धात्री च जननी पश्चाद् धिग्मानुष्यमसारकम्॥३१॥

अर्थ- उत्पन्न हुए जीव को सबसे पहले अनित्यता ही अपनी गोद में लेती है। पृथिवी और माता पीछे। सार रहित मनुष्यपर्याय को धिक्कार हो।

उपघ्रातस्य धीरेण मृत्युव्याघ्रेण देहिनः।
देवा अपि न जायन्ते शरणं किमु मानवाः॥३२॥

अर्थ- मृत्युरूपी भयंकर व्याघ्र के द्वारा सूंघे हुए इस जीव को देव भी शरण नहीं हैं फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है।

चतुर्गतिघटीयन्त्रे सन्निवेश्य घटीमिव।
आत्मानं भ्रमयत्येष हा कष्टं कर्मकच्छिकः॥३३॥

अर्थ- बड़े दुःख की बात है कि यह कर्मरूपी काछी इस जीव को चतुर्गतिरूपी रेंहट में घरिया के समान लगाकर घुमाता रहता है।

कस्यापत्यं पिता कस्य कस्याम्बा कस्य गेहिनी।
एक एव भवाम्भोधौ जीवो भ्रमति दुस्तरे॥३४॥

अर्थ- किसका पुत्र, किसका पिता, किसकी माता और किसकी स्त्री। इस दुस्तर संसारसागर में यह जीव अकेला ही घूमता है।

अन्यः सचेतनो जीवो वपुरन्यदचेतनम्।
हा तथापि न मन्यन्ते नानात्वमनयोर्जनाः॥३५॥

अर्थ- यद्यपि सचेतन जीव जुदा है और अचेतन शरीर जुदा है तथापि दुःख की बात है कि मनुष्य इन दोनों की जुदाई को नहीं मानते हैं।

नानाकृमिशताकीर्णे दुर्गन्धे मलपूरिते।

आत्मनश्च परेषां च क्व शुचित्वं शरीरके॥३६॥

अर्थ- नाना प्रकार के सैकड़ों कीडों से व्याप्त, दुर्गन्धित तथा मल से भरे हुए अपने और दूसरों के शरीर में पवित्रता कहाँ है?।

कर्माम्भोभिः प्रपूर्णोऽसौ योगरन्ध्रसमाहृतैः।
हा दुरन्ते भवाम्भोधौ जीवो मज्जति पोतवत्॥३७॥

अर्थ- बड़े खेद की बात है कि योगरूपी छिद्रों से आये हुए कर्मरूप जल से भरा हुआ यह जीव जहाज की तरह संसाररूपी दुःखदायक समुद्र में डूब रहा है।

योगद्वाराणि रुन्धन्तः कपाटैरिव गुप्तिभिः।
आपतद्भिर्न बाध्यन्ते धन्याः कर्मभिरुत्कटैः॥३८॥

अर्थ- किवाड़ों के समान गुप्तियों के द्वारा योगरूपी द्वारों को बन्द करनेवाले भाग्यशाली जीव चारों ओर से आनेवाले भयंकर कर्मों के द्वारा बाधित नहीं होते।

गाढोऽपजीर्यते यद्वदामदोषो विसर्पणात्।
तद्वन्निर्जीर्यते कर्म तपसा पूर्वसञ्चितम्॥३९॥

अर्थ- जिस प्रकार विरेचक औषधि से बहुत भारी अजीर्ण का दोष नष्ट हो जाता है उसीप्रकार तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्म नष्ट हो जाता है।

नित्याध्वगेन जीवेन भ्रमता लोकवर्त्मनि।
वसतिस्थानवत् कानि कुलान्यध्युषितानि न॥४०॥

अर्थ- लोक के मार्ग में भ्रमण करनेवाले नित्य पथिकस्वरूप इस जीव ने वसतिकाओं के स्थान के समान कौन-कौन कुलों में निवास नहीं किया है।

मोक्षारोहणनिश्रेणिः कल्याणानां परम्परा।
अहो कष्टं भवाम्भोधौ बोधिर्जीवस्य दुर्लभा॥४१॥

अर्थ- मोक्षरूपी महल पर चढ़ने के लिये नसैनी तथा कल्याणों की परम्परा स्वरूप रत्नत्रय की प्राप्ति इस जीव को संसाररूपी सागर में बहुत दुर्लभ है।

क्षान्त्यादिलक्षणो धर्मः स्वाख्यातो जिनपुङ्गवैः।
अयमालम्बनस्तम्भो भवाम्भोधौ निमज्जताम्॥४२॥

अर्थ- जिनेन्द्र भगवान के द्वारा सम्यक् प्रकार से कहा हुआ यह क्षमादि लक्षणवाला धर्म संसाररूपी समुद्र में डूबते हुए प्राणियों के लिये आधारस्तम्भ के समान है।

एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्ममहोद्यमः।
ततो हि निःप्रमादस्य महान् भवति संवरः॥४३॥

अर्थ- इस प्रकार की भावना करनेवाले साधु का धर्म में महान् पुरुषार्थ प्रकट होता है और उससे प्रमादरहित साधु के बहुत भारी संवर होता है।

वृत्तं सामायिकं ज्ञेयं छेदोपस्थापनं तथा।
परिहारं च सूक्ष्मं च यथाख्यातं च पञ्चमम्॥४४॥

अर्थ- सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकार का चारित्र जानना चाहिये।

प्रत्याख्यानमभेदेन सर्वसावद्यकर्मणः।
नित्यं नियतकालं वा वृत्तं सामायिकं स्मृतम्॥४५॥

अर्थ- सदा के लिये अथवा किसी निश्चित काल तक के लिये अभेदरूप से समस्त पापकार्यों का त्याग करना सामायिक नाम का चारित्र है।

यत्र हिंसादिभेदेन त्यागः सावद्य कर्मणः।
व्रतलोपे विशुद्धिर्वा छेदोपस्थापनं हि तत्॥४६॥

अर्थ- जिसमें हिंसा आदि के भेदपूर्वक पापकार्यों का त्याग होता है वह छेदोपस्थाना चारित्र है। अथवा व्रत में बाधा आने पर पुनः उसकी शुद्धि करने को छेदोपस्थापना कहते हैं।

विशिष्टपरिहारेण प्राणिघातस्य यत्र हि।
शुद्धिर्भवति चारित्रं परिहारविशुद्धि तत्॥४७॥

अर्थ- जिसमें प्राणिघात के एक विशिष्ट प्रकार के त्याग से शुद्धि होती है-परिणामों में निर्मलता आती है वह परिहारविशुद्धि नाम का संयम है।

कषायेषु प्रशान्तेषु प्रक्षीणेष्वखिलेषु वा।
स्यात्सूक्ष्मसाम्परायाख्यं सूक्ष्मलोभवतो मुनेः॥४८॥

अर्थ- समस्त कषायों के उपशान्त अथवा क्षीण हो जाने पर जिस मुनि के मात्र सूक्ष्म लोभ का सद्भाव रह जाता है उसके सूक्ष्मसाम्पराय नाम का संयम होता है।

क्षयाच्चारित्रमोहस्य कार्त्स्न्येनोपशमात्तथा।

यथाख्यातमथाख्यातं चारित्रं पञ्चमं जिनैः॥४९॥

अर्थ- चारित्रमोहनीयकर्म के सम्पूर्ण रूप से क्षय अथवा उपशम हो जाने से जो चारित्र प्रकट होता है उसे जिनेन्द्र भगवान् ने यथाख्यात नाम का पञ्चम चारित्र कहा है।

सम्यक् चारित्रमित्येतद्यथास्वं चरतो यतेः।
सर्वास्रवनिरोधः स्यात्ततो भवति संवरः॥५०॥

अर्थ- इस प्रकार इस सम्यक्चारित्र का जो मुनि यथायोग्य आचरण करता है उसके समस्त आस्रवों का निरोध हो जाता हैं और आस्रवों का निरोध होने से संवर होता है।

तपस्तु वक्ष्यते तद्धि सम्यग्भावयतो यतेः।
स्नेहक्षयात्तथा योगरोधाद्भवति संवरः॥५१॥

अर्थ- तप का वर्णन आगे के अधिकार में किया जावेगा। जो मुनि उस तप की अच्छी तरह भावना रखता है उसके स्नेह-कषाय का क्षय होने तथा योगों का निरोध होने से संवर होता है।

इति संवरतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्ष्यते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत्॥५२॥

अर्थ- इस प्रकार जो शेष छह तत्त्वों के साथ संवर तत्त्व की श्रद्धा करता है, उसे जानता है और उसकी उपेक्षा करता है वह निश्चय से निर्वाण को प्राप्त होता है।

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसार में संवरतत्त्व का वर्णन करनेवाला षष्ठ अधिकार पूर्ण हुआ।

सप्तम अधिकार

निर्जरा तत्त्व का वर्णन

मङ्गलाचरण

अनन्त केवलज्योतिःप्रकाशितजगत्यत्रान्।
प्राणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना निर्जरातत्त्वमुच्यते॥१॥

अर्थ- अनन्त केवलज्ञानरूपी ज्योति के द्वारा जिन्होंने तीनों लोकों को प्रकाशित कर दिया है ऐसे जिनेन्द्र भगवान् को शिर से नमस्कार कर निर्जरा तत्त्व का कथन किया जाता है।

उपात्तकर्मणः पातो निर्जरा द्विविधा च सा।
आद्या विपाकजा तत्र द्वितीया चाविपाकजा॥२॥

अर्थ- ग्रहण किये हुए कर्म का खिरना निर्जरा है। वह निर्जरा दो प्रकार की है-पहली विपाकजा और दूसरी अविपाकजा।

अनादिबन्धनोपाधिविपाकवशवर्तिनः।
कर्मारब्धफलं यत्र क्षीयते सा विपाकजा॥३॥

अर्थ- अनादि बन्धरूप उपाधि के उदयवशवर्ती जीव का कर्म जिसमें अपना फल देता हुआ खिरता है वह विपाकजा निर्जरा है।

अनुदीर्णं तपःशक्त्या यत्रोदीर्णोदयावलीम्।
प्रवेश्य वेद्यते कर्म सा भवत्यविपाकजा॥४॥
यथाम्रपनसादीनि परिपाकमुपायतः।
अकालेऽपि प्रपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनाम्॥५॥

अर्थ- अनुदीर्ण-उदयावली में अप्राप्त कर्म को तप की शक्ति के द्वारा उदीर्ण कर्मों की उदयावली में प्रविष्ट कराकर जिसमें वेदा जाता है वह अविपाकजा निर्जरा है। जिस प्रकार आम तथा कटहल आदि फल उपाय द्वारा असमय में ही पका लिये जाते हैं उसी प्रकार प्राणियों के कर्म भी तपश्चरणरूप उपाय द्वारा असमय में पका लिये जाते हैं-उदयावली में लाकर खिरा दिये जाते हैं।

अनुभूय क्रमात्कर्म विपाकप्राप्तमुज्झताम्।
प्रथमास्त्येव सर्वेषां द्वितीया तु तपस्विनाम्॥६॥

अर्थ- पहली निर्जरा क्रम क्रम से उदयावली को प्राप्त कर्म का फल भोगकर उसका त्याग करनेवाले समस्त जीवों के नियम से होती है परन्तु दूसरी निर्जरा तपस्वी-मुनियों के ही होती है।

तपस्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
प्रत्येकं षड्विधं तच्च सर्वं द्वादशधा भवेत्॥७॥

अर्थ- बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप दो प्रकार का कहा गया है। दोनों ही प्रकार के तप छह-छह प्रकार के हैं तथा सब मिलाकर तप बारह प्रकार का होता है।

बाह्यं तत्रावमौदर्यमुपवासो रसोज्झनम्।
वृत्तिसंख्या वपुः क्लेशो विविक्तशयनासनम्॥८॥

अर्थ- उनमें बाह्य तप के छह भेद निम्न प्रकार हैं-अवमौदर्य, उपवास, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्तशय्यासन।

सर्वं तदवमौदर्यमाहारं यत्र हापयेत्।

एक द्वित्र्यादिभिर्ग्रासैराग्रासं समयान्मुनिः॥९॥

अर्थ- वह सब अवमौदर्य नाम का तप है जिसमें मुनि समय का नियम लेकर एक दो तीन आदि ग्रासों के द्वारा आहार को एक ग्रास तक घटा देते हैं-कम कर देते हैं।

मोक्षार्थं त्यज्यते यस्मिन्नाहारोऽपि चतुर्विधः।
उपवासः स तद्भेदाः सन्ति षष्ठाष्टमादयः॥१०॥

अर्थ- जिसमें मोक्ष के लिये चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है वह उपवास कहलाता है। उसके षष्ठ-वेला तथा अष्टम-तेला आदि भेद हैं।

रसत्यागो भवेत्तैलक्षीरेक्षुदधिसर्पिषाम्।
एकद्वित्रीणि चत्वारि त्यजतस्तानि पञ्चधा॥११॥

अर्थ- तैल, दूध, इक्षुरस (गुड़ शक्कर आदि), दही और घी इन पाँच प्रकार के रसों में एक दो तीन चार या पाँचों रसों का त्याग करने वाले मुनि के रसपरित्याग नाम का तप होता है।

एक वास्तुदशागारमान मुद्गादिगोचरः।
सङ्कल्पः क्रियते यत्र वृत्तिसंख्या हि तत्तपः॥१२॥

अर्थ- जिससे एक मकान, दश मकान आदि तक जाना अथवा पेयपदार्थ और मूँग आदि अन्नों का संकल्प किया जाता है वह वृत्तिपरिसंख्यान नाम का तप है।

अनेक प्रतिमास्थानं मौनं शीत सहिष्णुता।
आतपस्थानमित्यादिकायक्लेशो मतं तपः॥१३॥

अर्थ- अनेक प्रकार के प्रतिमायोग धारण करना, नाना आसनों से ध्यानस्थ होना, मौन रहना, शीत की बाधा सहना तथा धूप में बैठना इत्यादि कायक्लेश तप माना गया है।

जन्तुपीडाविमुक्तायां वसतौ शयनासनम्।
सेवमानस्य विज्ञेयं विविक्तशयनासम्॥१४॥

अर्थ- जहाँ जीवों को पीड़ा न हो ऐसी वसतिका में शयन-आसन करनेवाले मुनि के विविक्तशय्यासन नामक तप होता है।

स्वाध्यायः शोधनं चैव वैयावृत्त्यं तथैव च।
व्युत्सर्गो विनयश्चैव ध्यानमाभ्यन्तरं तपः॥१५॥

अर्थ- स्वाध्याय, प्रायश्चित्त, वैयावृत्त्य, व्युत्सर्ग, विनय और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं।

वाचना प्रच्छनाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना।
अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्यायः पञ्चधा जिनैः॥१६॥

अर्थ- वाचना, प्रच्छना, आम्नाय धर्मोपदेश और अनुप्रेक्षा के भेद से जिनेन्द्र भगवान ने पाँच प्रकार स्वाध्याय कहा है।

वाचना सा परिज्ञेया यत्पात्रे प्रतिपादनम्।
गद्यस्य वाथ पद्यस्य तत्त्वार्थस्योभयस्य वा॥१७॥

अर्थ- गद्य-पद्यरूप ग्रन्थ का, उसके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का अथवा दोनों का पात्र के लिये जो देना है-वाँचकर सुनाता है उसे वाचना जानना चाहिये।

तत्संशयापनोदाय तन्निश्चयबलाय वा।

परं प्रत्यनुयोगो यः प्रच्छनां तद्विदुर्जिनाः॥१८॥

अर्थ- शास्त्रविषयक संशय को दूर करने के लिये, अथवा उसका निश्चय दृढ करने के लिये दूसरे से जो प्रश्न करना है उसे जिनेन्द्र भगवान् प्रच्छना नाम का स्वाध्याय कहते हैं।

आम्नायः कथ्यते घोषो विशुद्धं परिवर्तनम्॥

अर्थ- निर्दोष उच्चारण करते हुए पाठ करना आम्नाय नाम का स्वाध्याय कहलाता है।

कथाधर्माद्यनुष्ठानं विज्ञेया धर्मदेशना॥१९॥

अर्थ- धर्मकथा आदि का करना धर्मदेशना-धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय जानना चाहिये।

साधोरधिगतार्थस्य योऽभ्यासो मनसा भवेत्।
अनुप्रेक्षेति निर्दिष्टः स्वाध्यायः स जिनेशिभिः॥२०॥

अर्थ- पदार्थ को जानने वाले साधु का जो मन से अभ्यास-चिन्तन आदि होता है उसे जिनेन्द्र भगवान् ने अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय कहा है।

आलोचनं प्रतिक्रान्तिस्तथा तदुभयं तपः।
व्युत्सर्गश्च विवेकश्च तथोपस्थापना मता॥२१॥
परिहारस्तथाच्छेदः प्रायश्चित्तभिदा नव।

अर्थ- आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, तप, व्युत्सर्ग, विवेक, उपस्थापना, परिहार और छेद ये प्रायश्चित्त तप के नौ भेद हैं।

आलोचनं प्रमादस्य गुरवे विनिवेदनम्॥२२॥

अर्थ- गुरु के लिये अपने प्रमाद का निवेदन करना आलोचना है।

अभिव्यक्तप्रतीकारं मिथ्या मे दुष्कृतादिभिः।
प्रतिकान्तिस्तदुभयं संसर्गे सति शोधनात्॥२३॥

अर्थ- 'मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु' आदि शब्दों के द्वारा जिसमें प्रतिकार प्रकट किया जाता है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। स्वयं प्रतिक्रमण करना तथा गुरुजनों से संसर्ग होने पर आलोचना करना तदुभय कहलाता है।

भवेत्तपोऽवमौदर्यं वृत्तिसङ्ख्यादिलक्षणम्।
कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः परिभाषितः॥२४॥

अर्थ- अवमौदर्य तथा वृत्तिपरिसंख्यान आदि तप हैं। और कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग कहा गया है।

अन्नपानौषधीनां तु विवेकः स्याद्विवेचनम्।
पुनर्दीक्षाप्रदानं यत्सा ह्युपस्थापना भवेत्॥२५॥

अर्थ- अन्न, पान तथा औषध आदि का पृथक् करना विवेक है और फिर से नई दीक्षा देना उपस्थापना है।

परिहारस्तु मासादिविभागेन विवर्जनम्।
प्रव्रज्याहापनं छेदो मासपक्षदिनादिना॥२६॥

अर्थ- एक महीना आदि के लिये संघ से अलग कर देना परिहार है और एक मास, एक पक्ष, एक दिन आदि की दीक्षा कम कर देना छेद नाम का प्रायश्चित्त है।

सूर्य्युपाध्यायसाधूनां शैक्ष्यग्लानतपस्विनाम्।
कुलसङ्घमनोज्ञानां वैयावृत्यं गणस्य च॥२७॥
व्याध्याद्युपनिपातेऽपि तेषां सम्यग् विधीयते।
स्वशक्त्या यत्प्रतीकारो वैयावृत्त्यं तदुच्यते॥२८॥

अर्थ- आचार्य, उपाध्याय, साधु, शैक्ष्य, ग्लान, तपस्वी, कुल, सङ्घ, मनोज्ञ और गण इन दश प्रकार के मुनियों को बीमारी आदि के उपस्थित होने पर अपनी शक्ति के अनुसार जो उनका प्रतीकार किया जाता है वह वैयावृत्त्य कहलाता है।

बाह्यान्तरोपधित्यागाद् व्युत्सर्गो द्विविधो भवेत्।
क्षेत्रादिरुपधिर्बाह्यः क्रोधादिरपरः पुनः॥२९॥

अर्थ- बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग से व्युत्सर्गतप दो प्रकार का होता है। खेत आदिक बाह्य परिग्रह है और क्रोध आदिक आभ्यन्तर परिग्रह है।

दर्शनज्ञान विनयौ चारित्रविनयोऽपि च।
तथोपचारविनयो विनयः स्याच्चतुर्विधः॥३०॥

अर्थ- दर्शन विनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और उपचार विनय के भेद से विनयतप चार प्रकार का होता है।

यत्र निःशङ्कितत्त्वादिलक्षणोपेतता भवेत्।
श्रद्धाने सप्त तत्त्वानां सम्यक्त्वविनयः स हि॥३१॥

अर्थ- सप्त तत्त्वों के श्रद्धान के विषय में जहाँ निःशङ्कता आदि लक्षणों से सहितपना होता है वह सम्यक्त्वविनय अथवा दर्शनविनय है।

ज्ञानस्य ग्रहणाभ्याससम्मरणादीनि कुर्वतः।
बहुमानादिभिः सार्द्धं ज्ञानस्य विनयो भवेत्॥३२॥

अर्थ- जो मुनि बहुत सम्मान आदि के साथ ज्ञान का ग्रहण, अभ्यास तथा स्मरण आदि करता है उसके ज्ञानविनय होता है।

दर्शनज्ञानयुक्तस्य या समीहितचित्तता।
चारित्रं प्रति जायेत चारित्रविनयो हि सः॥३३॥

अर्थ- दर्शन-सम्यक्त्व और ज्ञान से युक्त पुरुष की चारित्र के प्रति जो उत्सुकता है-चारित्र धारण करने की जो लगन है वह चारित्रविनय है।

अभ्युत्थानानुगमनं वन्दनादीनि कुर्वतः।
आचार्यादिषु पूज्येषु विनयो ह्यौपचारिकः॥३४॥

अर्थ- आचार्य आदि पूज्य पुरुषों के विषय में अभ्युत्थान-उनके आने पर आगे जाकर ले आना, अनुगमन-जाने पर पीछे चलकर पहुँचाना तथा वन्दना-नमस्कार आदि करनेवाले मुनि के उपचारविनय होती है।

आर्त्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति चतुर्विधम्।
ध्यानमुक्तं परं तत्र तपोऽङ्गमुभयं भवेत्॥३५॥

अर्थ- आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल के भेद से ध्यान चार प्रकार का कहा गया है। इनमें अन्त के दो ध्यान तप के अङ्ग हैं।

प्रियभ्रंशेऽप्रियप्राप्तौ निदाने वेदनोदये।
आर्त्तं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः॥३६॥

अर्थ- इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग, निदान और वेदना का उदय होने पर जो कषाय से युक्त ध्यान होता है वह संक्षेप से आर्त्तध्यान कहा गया है।

हिंसायामनृते स्तेये तथा विषयरक्षणे।
रौद्रं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः॥३७॥

अर्थ- हिंसा, झूठ, चोरी और विषयसंरक्षण के समय कषाय से युक्त जो ध्यान होता है वह संक्षेप से रौद्रध्यान कहा गया है।

एकाग्रत्वेऽतिचिन्ताया निरोधो ध्यानमिष्यते।
अन्तर्मुहूर्ततस्तच्च भवत्युत्तमसंहते:॥३८॥

अर्थ- तीव्र चिन्ता का किसी एक पदार्थ में रुक जाना ध्यान कहलाता है। यह ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक होता है और उत्तमसंहनन वाले जीव के होता है।

आज्ञापायविपाकानां विवेकाय च संस्थिते:।
मनसः प्रणिधानं यद् धर्म्यध्यानं तदुच्यते॥३९॥

अर्थ- आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय के लिये मन की जो स्थिरता है वह धर्म्यध्यान कहलाता है। यही इसके चार भेद हैं।

प्रमाणीकृत्य सार्वज्ञीमाज्ञामर्थावधारणम्।
गहनानां पदार्थानामाज्ञाविचयमुच्यते॥४०॥

अर्थ- सर्वज्ञ भगवान् की आज्ञा को प्रमाण मानकर गहन-सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों का निर्धार करना आज्ञाविचय नाम का धर्म्यध्यान कहलाता है।

कथं मार्गं प्रपद्येरन्नमी उन्मार्गतो जनाः।
अपायमिति या चिन्ता तदपायविचारणम्॥४१॥

अर्थ- ये प्राणी उन्मार्ग को छोड़कर समीचीन मार्ग को किस तरह प्राप्त हो सकेंगे, इस प्रकार का विचार करना अथवा चतुर्गति के दु:खों का चिन्तन करना सो अपायविचय नाम का धर्म्यध्यान है।

द्रव्यादिप्रत्ययं कर्मफलानुभवनं प्रति।
भवति प्रणिधानं यद् विपाकविचयस्तु सः॥४२॥

अर्थ- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का कारण पाकर किस कर्म का किस प्रकार का फल भोगना पड़ता है ऐसा जो मन का प्रणिधान है वह विपाकविचय नाम का धर्म्यध्यान है।

लोकसंस्थानपर्यायस्वभावस्य विचारणम्।
लोकानुयोगमार्गेण संस्थानविचयो भवेत्॥४३॥

अर्थ- लोकानुयोग-लोक का वर्णन करनेवाले शास्त्रों के अनुसार लोक के आकार, पर्याय और स्वभाव का जो विचार है वह संस्थानविचय नाम का धर्म्यध्यान है।

शुक्लं पृथक्त्वमाद्यं स्यादेकत्वं तु द्वितीयकम्।
सूक्ष्मक्रियं तृतीयं तु तुर्यं व्युपरतक्रियम्॥४४॥

अर्थ- शुक्लध्यान के चार भेद हैं-पहला पृथक्त्व, दूसरा एकत्व, तीसरा सूक्ष्मक्रिया और चौथा व्युपरतक्रिया।

द्रव्याण्यनेकभेदानि योगैर्ध्यायति यत्त्रिभिः।
शान्तमोहस्ततो ह्येतत्पृथक्त्वमिति कीर्तितम्॥४५॥

अर्थ- शान्तमोह अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव, तीन योगों के द्वारा अनेक भेदों से युक्त द्रव्यों का जो ध्यान करता है वह पृथक्त्व नाम का शुक्लध्यान कहा गया है।

श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः।
पृथक्त्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत्॥४६॥
अर्थव्यञ्जनयोगानां विचारः संक्रमो मतः।
वीचारस्य हि सद्भावात् सवीचारमिदं भवेत्॥४७॥

अर्थ- चूँकि वितर्क का अर्थ श्रुत है और चौदह पूर्वों में प्रतिपादित अर्थ की शिक्षा से युक्त मुनि इसका ध्यान करता है इसलिये यह ध्यान सवितर्क कहलाता है। अर्थ, शब्द और योगों का संक्रमण-परिवर्तन वीचार माना गया है। इस ध्यान में उक्त लक्षणवाला वीचार रहता है। इसलिये यह ध्यान सवीचार होता है।

द्रव्यमेकं तथैकेन योगेनान्यतरेण च।
ध्यायति क्षीणमोहो यत्तदेकत्वमिदं भवेत्॥४८॥

अर्थ- क्षीणमोह अर्थात् बारहवें गुणस्थान में रहनेवाला मुनि तीन में से किसी एक योग के द्वारा एक द्रव्य का जो ध्यान करता है वह एकत्व नाम का दूसरा शुक्लध्यान है।

श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः।
एकत्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हि तत्॥४९॥
अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमो मतः।
वीचारस्य ह्यसद्भावादवीचारमिदं भवेत्॥५०॥

अर्थ- चूँकि वितर्क का अर्थ श्रुत है और चौदहपूर्वों में प्रतिपादित अर्थ को शिक्षा से युक्त मुनि एकत्व का ध्यान करता है इसलिये यह ध्यान सवितर्क होता है। अर्थ, शब्द और योगों का संक्रमण वीचार माना गया है। ऐसे वीचार का सद्भाव इस ध्यान में नहीं रहता इसलिये यह अवीचार होता है।

अवितर्कमवीचारं सूक्ष्मकायावलम्बनम्।
सूक्ष्मक्रियं भवेद् ध्यानं सर्वभावगतं हि तत्॥५१॥
काययोगेऽतिसूक्ष्मे तद् वर्तमानो हि केवली।
शुक्लं ध्यायति संरोद्धुं काययोगं तथाविधम्॥५२॥

अर्थ- जो ध्यान वितर्क और वीचार से रहित है तथा सूक्ष्मकाययोग के अवलम्बन से होता है वह सूक्ष्मक्रिय नाम का शुक्लध्यान है। यह समस्त पदार्थों को विषय करनेवाला है। अत्यन्त सूक्ष्म काययोग में विद्यमान केवली भगवान् उस प्रकार के काययोग को रोकने के लिये इस शुक्लध्यान का ध्यान करते हैं।

अवितर्कमवीचारं ध्यानं व्युपरतक्रियम्।
परं निरुद्धयोगं हि तच्छैलेश्यमपश्चिमम्॥५३॥
तत्पुना रुद्धयोगः सन् कुर्वन् कायत्रयासनम्।
सर्वज्ञः परमं शुक्लं ध्यायत्यप्रतिपत्ति तत्॥५४॥

अर्थ- जो वितर्क और वीचार से रहित है तथा जिसमें योगों का बिलकुल निरोध हो चुका है वह व्युपरतक्रिय नाम का चौथा शुक्लध्यान है। यह ध्यान सर्वश्रेष्ठ शीलों के स्वामित्व को प्राप्त होता है अर्थात् यह अठारह हजार शील के भेदों से सहित होता है। जिसके सब योग रुक गये हैं तथा जो सत्ता में स्थित औदारिक,

तैजस और कार्मण इन तीन शरीरों का त्याग कर रहे हैं ऐसे सर्वज्ञ भगवान् इस उत्कृष्ट शुक्लध्यान का ध्यान करते हैं। यह ध्यान प्रतिपत्ति से रहित है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः संयतासंयतस्ततः।
संयतस्तु ततोऽनन्तानुबन्धिप्रवियोजकः॥५५॥
दृग्मोहक्षपकस्तस्मात्तथोपशमकस्ततः।
उपशान्तकषायोऽतस्ततस्तु क्षपको मतः॥५६॥
ततः क्षीणकषायस्तु घातिमुक्तस्ततो जिनः।
दशैते क्रमशः सन्त्य संख्येयगुणनिर्जराः॥५७॥

अर्थ- सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, संयत, अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करनेवाला, दर्शनमोह का क्षय करनेवाला, उपशमश्रेणीवाला, उपशान्तमोह-ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती, क्षपकश्रेणीवाला, क्षीणकषाय-बारहवें गुणस्थानवर्ती और घातिया कर्मों से रहित जिनेन्द्र भगवान् ये दश क्रम से असंख्यातगुणी निर्जरा करनेवाले हैं।

पुलाको वकुशो द्वेधा कुशीलो द्विविधस्तथा।
निर्ग्रन्थः स्नातकश्चैव निर्ग्रन्थाः पञ्च कीर्तिताः॥५८॥

अर्थ- पुलाक, दो प्रकार के वकुश, दो प्रकार के कुशील, निर्ग्रन्थ, और स्नातक ये पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ-मुनि कहे गये हैं।

संयमश्रुतलेश्याभिर्लिङ्गेन प्रतिसेवया।
तीर्थस्थानोपपादैश्च विकल्प्यास्ते यथागमम्॥५९॥

अर्थ- संयम, श्रुत, लेश्या, लिङ्ग, प्रतिसेवना, तीर्थ, स्थान और उपपाद इन आठ अनुयोगों के द्वारा ऊपर कहे हुए मुनि आगम के अनुसार विकल्प करने के योग्य हैं।

इति यो निर्जरातत्त्वं श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत्॥६०॥

अर्थ- इस प्रकार शेष छह तत्त्वों के साथ जो निर्जरातत्त्व की श्रद्धा करता है उसे जानता है और उसकी उपेक्षा करता है वह निर्वाण को प्राप्त होता है।

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसार में निर्जरातत्त्व का वर्णन करने वाला सप्तम अधिकार पूर्ण हुआ।

अष्टम अधिकार

मोक्ष का वर्णन

मङ्गलाचरण

अनन्त केवलज्योतिःप्रकाशितजगत्त्रयान्।
प्रणिपत्य जिनान्मूर्ध्ना मोक्षतत्त्वं प्ररूप्यते॥१॥

अर्थ- अनन्त केवलज्ञानरूपी ज्योति के द्वारा तीनों जगत् को प्रकाशित करनेवाले अरहन्तों को शिर से नमस्कारकर मोक्षतत्त्व का निरूपण किया जाता है।

अभावाद्बन्धहेतूनां बद्धनिर्जरया तथा।
कृत्स्नकर्मप्रमोक्षो हि मोक्ष इत्यभिधीयते॥२॥

अर्थ- बन्ध के कारणों का अभाव तथा पूर्वबद्धकर्मों की निर्जरा से समस्त कर्मों का सदा के लिये छूट जाना मोक्ष कहलाता है।

बध्नाति कर्म सद्वेद्यं सयोगः केवली विदुः।
योगाभावादयोगस्य कर्मबन्धो न विद्यते॥३॥
ततो निजीर्ण निःशेषपूर्व सञ्चितकर्मणः।
आत्मनः स्वात्मसंप्राप्तिर्मोक्षः सद्योऽवसीयते॥४॥

अर्थ- ऐसा जानना चाहिये कि सयोगकेवली सातावेदनीयकर्म का बन्ध करते हैं परन्तु योग का अभाव हो जाने से आगे आयोग केवली के कर्मबन्ध नहीं होता है। तदनन्तर जिसके पूर्व संचित समस्त कर्मों की निर्जरा हो चुकी है ऐसे जीव के स्वात्मोपलब्धिरूप मोक्ष शीघ्र हो जाता है।

तथौपशमिकादीनां भव्यत्वस्य च संक्षयात्।
मोक्षः सिद्धत्वसम्यक्त्वज्ञान दर्शनशालिनः॥५॥

अर्थ- औपशमिक आदि भाव तथा भव्यत्वभाव के क्षय से सिद्धत्व, सम्यक्त्व, ज्ञान और दर्शन से सुशोभित आत्मा का मोक्ष होता है।

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धनसन्ततेः।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्त्यबीजवत्॥६॥

अर्थ- कर्मबन्धन सन्तति सम्बन्धी सद्भाव की आदि का अभाव होने से उसके अन्त के अभाव का प्रसङ्ग नहीं आ सकता, क्योंकि अन्तिम बीज के समान अनादि वस्तु का भी अन्त देखा जाता है।

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥७॥

अर्थ- जिस प्रकार बीज के अत्यन्त जल जाने पर अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार कर्मरूपी बीज के अत्यन्त जल जाने पर संसाररूपी अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता।

अव्यवस्था न बन्धस्य गवादीनामिवात्मनः।
कार्यकारणविच्छेदान्मिथ्यात्वादिपरिक्षये॥८॥

अर्थ- गाय आदि के समान आत्मा के बन्ध की अव्यवस्था नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्व आदि का क्षय हो जाने पर बन्धरूप कार्य के कारणों का विच्छेद हो जाता है।

जानतः पश्यतश्चोर्ध्वं जगत्कारुण्यतः पुनः।

तस्य बन्धप्रसङ्गो न सर्वास्रवपरिक्षयात्॥९॥

अर्थ- मुक्त जीव, मुक्त होने के बाद भी करुणापूर्वक जगत को जानते तथा देखते हैं पर इससे उनके बन्ध का प्रसङ्ग नहीं आता, क्योंकि उनके सब प्रकार के आस्रवों का पूर्ण रूप से क्षय हो चुकता है।

अकस्माच्च न बन्धः स्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गतः।
बन्धोपपत्तिस्तत्र स्यान्मुक्ति प्राप्तेरनन्तरम्॥१०॥

अर्थ- अकस्मात्-विना कारण, मुक्त जीव के बन्ध नहीं होता; क्योंकि विना कारण बन्ध मानने पर कभी मुक्त होने का प्रसङ्ग ही नहीं आवेगा। मुक्ति प्राप्ति के बाद भी उनके बन्ध हो जावेगा।

पातोऽपि स्थानवत्वान्न तस्य नास्रवतत्त्वतः।
आस्रवाद्यानपात्रस्य प्रपातोऽधो ध्रुवं भवेत्॥११॥

अर्थ- मुक्त जीव स्थानवान् हैं इसलिये उनका पतन होना चाहिये, यह बात भी नहीं है क्योंकि उनके आस्रव तत्त्व का अभाव हो चुका है। लोक में जहाज का आस्रव-जल आदि के आगमन के कारण ही नीचे की ओर निश्चित रूप से पतन होता है।

तथापि गौरवाभावान्न पातोऽस्य प्रसज्यते।
वृन्तसम्बन्धविच्छेदे पतत्याम्रफलं गुरु॥१२॥

अर्थ- स्थानवान् होने पर भी गुरुत्व का अभाव होने के कारण मुक्त जीव के पतन का प्रसङ्ग नहीं आता क्योंकि ठण्डलसे सम्बन्ध विच्छेद होने पर गुरु-वजनदार आम का फल नीचे गिरता है।

अल्पक्षेत्रे तु सिद्धानामनन्तानां प्रसज्यते।
परस्परोपरोधोऽपि नावगाहनशक्तितः॥१३॥
नानादीपप्रकाशेषु मूर्तिमत्स्वपि दृश्यते।
न विरोधः प्रदेशेऽल्पे हन्तामूर्तेषु किं पुनः॥१४॥

अर्थ- अल्पस्थान में अनन्त सिद्ध रहते हैं परन्तु उनमें परस्पर उपरोध नहीं होता क्योंकि उनके अवगाहन शक्ति विद्यमान है। एक छोटे से स्थान में जब मूर्तिमान नाना दीपों के प्रकाश में भी परस्पर घात करनेवाला विरोध नहीं देखा जाता तब अमूर्तिक सिद्धों में तो हो ही कैसे सकता है।

आकाराभावतोऽभावो न च तस्य प्रसज्यते।
अनन्तरपरित्यक्तशरीराकारधारिणः॥१५॥

अर्थ- आकार का अभाव होने से मुक्त जीव के अभाव का प्रसङ्ग नहीं आता क्योंकि मुक्तजीव, मुक्त होने से निकट पूर्वकाल में छोड़े हुए शरीर का आकार धारण करते हैं।

शरीरानुविधायित्वे तत्तदभावाद्विसर्पणम्।
लोकाकाशप्रमाणस्य तावन्नाकारणत्वतः॥१६॥

अर्थ- यदि आत्मा का आकार शरीर के अनुरूप होता है तो शरीर का अभाव होने पर लोकाकाशप्रमाण आत्मा को सर्वत्र फैल जाना चाहिये, यह बात नहीं है, क्योंकि फैलने का कोई कारण नहीं है।

शराव चन्द्रशालादिद्रव्यावष्टम्भयोगतः।
अल्पो महांश्च दीपस्य प्रकाशो जायते यथा॥१७॥
संहारे च विसर्पे च तथात्मानात्मयोगतः।

तदभावात्तु मुक्तस्य न संहारविसर्पणे॥१८॥

अर्थ- जिसप्रकार शकोरा-मिट्टी का वर्तन और चन्द्रशाला-उपरितनगृह आदि पदार्थरूप आलम्बनों के योग से दीपक का प्रकाश छोटा और बड़ा होता है उसी प्रकार आत्मा, अनात्मा-अर्थात् शरीर के योग से संकोच और विस्तार के समय छोटा और बड़ा मालूम होता है। चूँकि मुक्त जीव के शरीर का अभाव हो चुकता है इसलिये संकोच और विस्तार दोनों ही नहीं होते हैं।

कस्यचिच्छृङ्खलामोक्षे तत्रावस्थानदर्शनात्।
अवस्थानं न मुक्तानामूर्द्ध्वव्रज्यात्मकत्वतः॥१९॥

अर्थ- किसी जीव की, सांकल से छुटकारा होने पर उसी स्थान पर स्थिति देखी जाती है परन्तु मुक्त जीव का चूँकि ऊर्ध्वगमन स्वभाव है इसलिये कर्म-बन्धन से छुटकारा मिलने पर उसी स्थान पर स्थिति नहीं रहती।

सम्यक्त्वज्ञानचारिसंयुक्तस्यात्मनो भृशम्।
निरास्रवत्वाच्छिन्नायां नवायां कर्मसन्ततौ॥२०॥
पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः।
संसारबीजं कार्त्स्न्येन मोहनीयं प्रहीयते॥२१॥
ततोऽन्तरायज्ञानघ्नदर्शनघ्नान्यनन्तरम्।
प्रहीन्तेऽस्य युगपत्त्रीणि कर्माण्यशेषतः॥२२॥
गर्भसूच्यां विनष्टायां यथा बालो विनश्यति।
तथा कर्म क्षयं याति मोहनीये क्षयं गते॥२३॥

ततः क्षीणचतुःकर्मा प्राप्तोऽथाख्यांत संयमम्।
बीजबन्धननिर्मुक्तः स्नातकः परमेश्वरः॥२४॥
शेषकर्मफलापेक्षः शुद्धो बुद्धो निरामयः।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च जिनो भवति केवली॥२५॥
कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति।
यथा दग्धेन्धनो वह्निर्निरुपादानसन्ततिः॥२६॥

अर्थ- जब यह आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र से अत्यन्त युक्त होता है, आस्रव से रहित होने के कारण नवीन कर्मों की सन्तति कट जाती है तथा यह आत्मा पहले कहे हुए क्षय के कारणों के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करने लगता है तब संसार का बीजभूत मोहनीय कर्म सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है। तदनन्तर अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये तीन कर्म एक साथ सम्पूर्णरूप से नष्ट होते हैं। जिसप्रकार गर्भसूची के नष्ट होने पर बालक मर जाता है उसी प्रकार मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर उक्त कर्म नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर जिसके चार घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं, जो अथाख्यात-अथवा यथाख्यात चारित्र को प्राप्त है जो बीजबन्ध से निर्मुक्त है, स्नातक है, परमेश्वर है, शेष बचे हुए चार अघातिया कर्मों की अपेक्षा से सहित है अर्थात् उनका फल भोग रहा है, शुद्ध है, बुद्ध है, नीरोग है, सर्वज्ञ है और सर्वदर्शी है ऐसा आत्मा केवली जिन-केवलज्ञानी अरहन्त होता है। उसके बाद जिसने प्राप्त इन्धन को जला दिया है तथा जिसके नवीन इन्धन की सन्तति नष्ट हो चुकी है ऐसी अग्नि जिस प्रकार निर्वाण को प्राप्त होती है-बुझ जाती है उसी प्रकार उक्त आत्मा समस्त कर्मों

का क्षय होने से निर्वाण को प्राप्त होता है-मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

तदनन्तरमेवोद्ध्वर्मालोकान्तात्स गच्छति।
पूर्व प्रयोगासङ्गत्वाद्बन्धच्छेदोर्ध्वगौरवैः॥२७॥
कुलालचक्रे डोलायामिषौ चापि यथेष्यते।
पूर्वप्रयोगात्कर्मेह तथा सिद्धगतिः स्मृता॥२८॥
मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षाद्यथा दृष्टाप्स्वलाम्बुनः।
कर्मबन्धविनिर्मोक्षात्तथा सिद्धगतिः स्मृता॥२९॥
एरण्डस्फुटदेलासु बन्धच्छेदाद्यथा गतिः।
कर्मबन्धन विच्छेदाज्जीवस्यापि तथेष्यते॥३०॥
यथाधस्तिर्यगूद्ध्वर्ं च लोष्टवाय्वग्निवीचयः।
स्वभावतः प्रवर्तन्ते तथोद्ध्वर्गतिरात्मनाम्॥३१॥
ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः।
अधोगौरवधर्माणः पुद्गला इति चोदितम्॥३२॥
अतस्तु गतिवैकृत्यं तेषां यदुपलभ्यते।
कर्मणः प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते॥३३॥
अधस्तिर्यक्तथोद्ध्वर्ं च जीवानां कर्मजा गतिः।
ऊर्ध्वमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणाम्॥३४॥

अर्थ- समस्त कर्मों का क्षय होने के बाद वह जीव पूर्वप्रयोग, असङ्गत्व, बन्धच्छेद तथा ऊर्ध्वगौरव स्वभाव इन चार कारणों से लोक के अंत तक गमन करता है। जिस प्रकार कुम्भकार के चक्र, हिंडोला और बाण में पूर्वप्रयोग से-पहले के संस्कार से कर्म-क्रिया होती है उसी प्रकार पूर्वप्रयोग से सिद्धजीवों की गति मानी गई है।

जिस प्रकार मिट्टी के लेप का सङ्ग छूट जाने से पानी में तूमड़ी की ऊर्ध्वगति मानी गई है। जिस प्रकार बोंड़ी का बन्धन नष्ट होने पर चटकती हुई एरण्ड की बिजी में ऊर्ध्वगति होती है उसी प्रकार कर्मबन्धन के नष्ट होने से मुक्तजीव की ऊर्ध्वगति मानी जाती है। जिस प्रकार पत्थर के ढेलों की गति नीचे की ओर, वायु की गति तिरछी-चारों ओर और अग्नि की ज्वालाओं की गति ऊपर की ओर स्वभाव से होती है उसी तरह मुक्तजीवों की गति ऊपर की ओर स्वभाव से होती है। जीव ऊर्ध्वगति स्वभाव वाले हैं और पुद्गल अधोगति स्वभाववाले हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। उन जीव और पुद्गलों में जो गति की विकृति-विभिन्नता पाई जाती है वह कर्मों के कारण, किसी अन्य वस्तु के प्रतिघात से अथवा प्रयोगविशेष से मानी जाती है। संसारी जीवों की कर्मजन्य गति नोचे, तिरछी और ऊपर की ओर होती है परन्तु कर्मरहित जीवों की गति स्वभाव से ऊपर की ओर ही होती है।

द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीतयः।
समं तथैव सिद्धस्य गतिर्मोक्षे भवक्षयात्॥३५॥
उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाशतमसोरिह।
युगपद्भवतो यद्वत्तद्वन्निर्वाणकर्मणोः॥३६॥

अर्थ- जिस प्रकार द्रव्यकर्म की उत्पत्ति का प्रारम्भ और विनाश साथ ही साथ होते हैं उसी प्रकार सिद्ध भगवान की मोक्षविषयक गति संसार का क्षय होते ही साथ ही साथ होती है। जिस प्रकार प्रकाश की उत्पत्ति और अंधकार का विनाश एक साथ होता है उसी प्रकार निर्वाण की उत्पत्ति और कर्म का विनाश एक साथ होता है।

ज्ञानावरणहानात्ते केवलज्ञानशालिनः।
दर्शनावरणच्छेदादुद्यत्केवलदर्शनाः॥३७॥
वेदनीयसमुच्छेदादव्याबाधत्वमाश्रिताः।
मोहनीय समुच्छेदात्सम्यक्त्वमचलं श्रिताः॥३८॥
आयुःकर्मसमुच्छेदादवगाहनशालिनः।
नामकर्मसमुच्छेदात्परमं सौक्ष्म्यमाश्रिताः॥३९॥
गोत्रकर्मसमुच्छेदात्सदाऽगौरवलाघवाः
अन्तराय समुच्छेदादनन्तवीर्यामाश्रिताः॥४०॥

अर्थ- वे सिद्ध भगवान् ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान से सुशोभित रहते हैं, दर्शनावरण कर्म का क्षय होने से केवलदर्शन से सहित होते हैं, वेदनीय कर्म का क्षय होने से अव्याबाधत्व गुण को प्राप्त होते हैं, मोहनीय कर्म का विनाश होने से अविनाशी सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं, आयुकर्म का विच्छेद होने से अवगाहना को प्राप्त होते हैं, नामकर्म का उच्छेद होने से सूक्ष्मत्वगुण को प्राप्त हैं, गोत्रकर्म का विनाश होने से सदा अगुरुलघु गुण से सहित होते हैं और अन्तराय का नाश होने से अनन्तवीर्य को प्राप्त होते हैं।

काललिङ्गगतिक्षेत्र तीर्थज्ञानावगाहनैः।
बुद्धबोधितचारित्रसङ्ख्याल्पबहुतान्तरैः॥४१॥
प्रत्युत्पन्ननया देशात्ततः प्रज्ञापनादपि।
अप्रमत्तैर्बुधैः सिद्धाः साधनीया यथागमम्॥४२॥

अर्थ- प्रमादरहित विद्वानों द्वारा वर्तमान नय तथा भूतपूर्व प्रज्ञापन नय की अपेक्षा काल, लिङ्ग, गति, क्षेत्र, तीर्थ, ज्ञान, अवगाहना,

बुद्धबोधित, चारित्र, संख्या, अल्पबहुत्व और अन्तर इन बारह अनुयोगों से सिद्ध भगवान् आगम के अनुसार साधनीय हैं-विचार करने योग्य हैं।

तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शने।
सम्यक्त्वसिद्धतावस्था हेत्वभावाच्च निःक्रियाः॥४३॥
ततोऽप्यूद्‌र्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मतिः।
धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः॥४४॥

अर्थ- वे सिद्ध भगवान् तादात्म्यसम्बन्ध होने के कारण केवलज्ञान और केवलदर्शन के विषय में सदा उपयुक्त रहते हैं तथा सम्यक्त्व और सिद्धता अवस्था को प्राप्त हैं। हेतु का अभाव होने से वे निःक्रिया-क्रिया से रहित हैं। यहाँ कोई ऐसा विचार करे कि लोकान्त के आगे भी सिद्धों की गति क्यों नहीं होती है तो उसका उत्तर यह है कि लोकान्त के आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है। वास्तव में धर्मास्तिकाय गति का परम कारण है।

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम्।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः॥४५॥

अर्थ- सिद्धों का सुख संसार के विषयों से अतीत, अविनाशी, अव्याबाध तथा परमोत्कृष्ट है ऐसा परमऋषियों ने कहा है।

स्यादेतदशरीरस्य जन्तोर्नष्टाष्टकर्मणः।
कथं भवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तरं शृणु॥४६॥
लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते।
विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च॥४७॥

सुखो वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते।
दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोऽस्मीति भाषते॥४८॥
पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम्।
कर्मक्लेशविमोक्षाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम्॥४९॥

अर्थ- यदि कोई यह प्रश्न करे कि शरीररहित एवं अष्टकर्मों को नष्ट करने वाले मुक्तजीव के सुख कैसे हो सकता है तो उसका उत्तर यह है, सुनो। इस लोक में विषय, वेदना का अभाव, विपाक और मोक्ष इन चार अर्थों में सुख शब्द का प्रयोग होता है। जैसे अग्नि सुखरूप है, वायु सुखरूप है, यहाँ विषय अर्थ में सुखशब्द कहा जाता है। दुःख का अभाव होने पर पुरुष कहता है कि मैं सुखी हूँ यहाँ वेदना के अभाव में सुखशब्द प्रयुक्त हुआ है। पुण्यकर्म के उदय से इन्द्रियों के इष्ट पदार्थों से उत्पन्न हुआ सुख होता है। यहाँ विपाक-कर्मोदय में सुख शब्द का प्रयोग है। और कर्मजन्यक्लेश से छुटकारा मिलने से मोक्ष में उत्कृष्ट सुख होता है। यहाँ मोक्ष अर्थ में सुख का प्रयोग है।

सुषुप्तावस्थया तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम्।
तदयुक्तं क्रियावत्त्वात्सुखातिशयतस्तथा॥५०॥
श्रमक्लेममदव्याधिमदनेभ्यश्च संभवात्।
मोहोत्पत्तिर्विपाकाच्च दर्शनघ्नस्य कर्मणः॥५१॥

अर्थ- कोई कहते हैं कि निर्वाण सुषुप्त अवस्था के तुल्य है परन्तु उनका वैसा कहना अयुक्त है-ठीक नहीं है क्योंकि मुक्तजीव क्रियावान् हैं जब कि सुषुप्तावस्था में कोई क्रिया नहीं होती तथा मुक्तजीव के सुख की अधिकता है जबकि सुषुप्त अवस्था में सुख

का रंचमात्र भी अनुभव नहीं होता। सुषुप्तावस्था की उत्पत्ति श्रम, खेद, नशा, बीमारी और काम सेवन से होती है तथा उसमें दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से मोह की उत्पत्ति होती रहती है जबकि मुक्तजीव के यह सब संभव नहीं है।

लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते।
उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम्॥५२॥
लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः।
अलिङ्गं चाप्रसिद्धं यत्तेनानुपमं स्मृतम्॥५३॥

अर्थ- समस्त संसार में उसके समान अन्य पदार्थ नहीं है जिससे कि मुक्तजीवों के सुख की उपमा दी जा सके, इसलिये वह निरुपम माना गया है। लिङ्ग अर्थात् हेतु से अनुमान में और प्रसिद्धि से उपमान में प्रामाणिकता आती है। परन्तु मुक्तजीवों का सुख अलिङ्ग है-हेतुरहित है तथा अप्रसिद्ध है इसलिये वह अनुमान और उपमान प्रमाण का विषय न होकर अनुपम माना गया है।

प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैः प्रभाषितम्।
गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न च छद्मस्थपरीक्षया॥५४॥

अर्थ- मुक्तजीवों का वह सुख अर्हन्त भगवान् के प्रत्यक्ष है तथा उन्हीं के द्वारा उसका कथन किया गया है इसलिये 'वह है' इस तरह विद्वज्जनों के द्वारा स्वीकृत किया जाता है, अज्ञानी जीवों को परीक्षा से वह स्वीकृत नहीं किया जाता।

इत्येतन्मोक्षतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्युपेक्षते।
शेषतत्त्वैः समं षड्भिः स हि निर्वाणभाग्भवेत्॥५५॥

अर्थ- इस प्रकार शेष छह तत्त्वों के साथ जो मोक्षतत्त्व की श्रद्धा करता है, उसे जानता है तथा उसकी उपेक्षा करता है अर्थात् रागद्वेषरहित प्रवृत्ति करता है वह नियम से निर्वाण को प्राप्त होता है।

इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित तत्त्वार्थसार में मोक्ष तत्त्व का वर्णन करनेवाला अष्टम अधिकार पूर्ण हुआ।

उपसंहार

प्रमाणनय निक्षेप निर्देशादिसदादिभिः।
सप्ततत्त्वीमिति ज्ञात्वा मोक्षमार्गं समाश्रयेत्॥१॥

अर्थ- इसप्रकार प्रमाण, नय, निक्षेप, निर्देशादि तथा सत्संख्या आदि उपायों से सात तत्त्वों के समूह को जानकर मोक्षमार्ग का आश्रय लेना चाहिये।

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्॥२॥

अर्थ- निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। उनमें पहला अर्थात् निश्चय मोक्षमार्ग साध्यरूप है और दूसरा अर्थात् व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है।

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः॥३॥

अर्थ- अपने शुद्ध आत्मा का जो श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षाभाव है वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही निश्चय मोक्षमार्ग है।

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्युः परात्मनाम्।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः॥४॥

अर्थ- और जो परपदार्थों का श्रद्धान, ज्ञान तथा उपेक्षाभाव है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र व्यवहारमोक्षमार्ग है।

श्रद्दधानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः॥५॥

अर्थ- जो परद्रव्य की श्रद्धा करता है, परद्रव्य को ही जानता है और पर-द्रव्य के प्रति उपेक्षाभाव रखता है वह व्यवहारी मुनि माना गया है।

स्वद्रव्यं श्रद्दधानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनिसत्तमः॥६॥

अर्थ- जो स्वद्रव्य की श्रद्धा करता है, स्वद्रव्य को जानता है और स्वद्रव्य के प्रति उपेक्षाभाव रखता है वह निश्चयनय से श्रेष्ठ मुनि है।

आत्मा ज्ञातृतया ज्ञानं सम्यक्त्वं चरितं हि सः।
स्वस्थो दर्शनचारित्र मोहाभ्यामनुपप्लुतः॥७॥

अर्थ- जो दर्शनमोह और चारित्रमोह के उपद्रव से रहित होने के कारण स्वस्थ है-अपने आप में स्थिर है ऐसा आत्मा ही ज्ञायक होने से ज्ञान, सम्यक्त्व और चारित्र है।

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः॥८॥

अर्थ- जो आत्मा स्वरूप को देखता है, जानता है और उसी में चरण करता है वह आत्मा ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों रूप है अथवा ये तीनों आत्मा ही हैं।

पश्यति स्वस्वरूपं यं जानाति च चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥९॥

अर्थ- आत्मा अपने जिस स्वरूप को देखता है, जानता है और जिसका आचरण करता है वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र है, आत्मा ही इन तीनों रूप है।

दृश्यते येन रूपेण ज्ञायते चर्यतेऽपि च।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥१०॥

अर्थ- आत्मा जिस रूप से देखा जाता है, जाना जाता है और आचरण किया जाता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनों रूप है।

यस्मै पश्यति जानाति स्वरूपाय चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥११॥

अर्थ- आत्मा अपने जिस स्वरूप के लिये देखता है, जानता है और आचरण करता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनों रूप है।

यस्मात्पश्यति जानाति स्वं स्वरूपाच्चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥१२॥

अर्थ- आत्मा जिस स्वरूप से अपने आपको देखता है, जानता है, और आचरण करता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनों रूप है।

यस्य पश्यति जानाति स्वरूपस्य चरत्यपि।
दर्शन ज्ञानचरित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥१३॥

अर्थ- आत्मा अपने जिस स्वरूप का दर्शन करता है, ज्ञान करता है और आचरण करता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनों रूप है।

यस्मिन् पश्यति जानाति स्वस्वरूपे चरित्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥१४॥

अर्थ- आत्मा अपने जिस स्वरूप में श्रद्धा करता है, जानता है और आचरण करता है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनों रूप है।

ये स्वभावाद् दृशिज्ञप्तिचर्यारूपक्रियात्मकाः।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः॥१५॥

अर्थ- जो स्वभाव से दर्शन, ज्ञान और आचरणरूप क्रिया से तन्मय हैं वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनों रूप है।

दर्शनज्ञानचारित्रगुणानां य इहाश्रयः।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः॥१६॥

अर्थ- जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणों का आश्रय है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है, उन तीनों रूप आत्मा ही माना गया है।

दर्शनज्ञानचारित्रपर्यायाणां य आश्रयः।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः॥१७॥

अर्थ- दर्शन, ज्ञान और चारित्र पर्यायों का जो आश्रय है वही दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। आत्मा ही इन तीनों रूप स्मरण किया गया है।

दर्शनज्ञानचारित्र प्रदेशा ये प्ररूपिताः।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते॥१८॥

अर्थ- दर्शन, ज्ञान और चारित्र के जो प्रदेश कहे गये हैं वे दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप आत्मा के ही प्रदेश हैं।

दर्शनज्ञानचारित्रागुरुलघ्वाह्वया गुणाः।
दर्शनज्ञानचारित्रमयस्यात्मन एव ते॥१९॥

अर्थ- दर्शन, ज्ञान और चारित्र के जो अगुरुलघु नामक गुण हैं वे दर्शन, ज्ञान चारित्ररूप आत्मा के ही गुण हैं।

दर्शनज्ञानचारित्र धौव्योत्पादव्ययास्तु ते।
दर्शनज्ञानचारित्र मयस्यात्मन एव ते॥२०॥

अर्थ- दर्शन, ज्ञान और चारित्र के जो ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय हैं वे दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप आत्मा के ही हैं।

शालिनी छन्द

स्यात्सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः
पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः।
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः
स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः॥२१॥

अर्थ- पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सदा अद्वितीय रहनेवाला एक ज्ञानी आत्मा ही मोक्षमार्ग है।

वसन्ततिलका छन्द

तत्त्वार्थसारमिति यः समधीर्विदित्वा
निर्वाणमार्गमधितिष्ठति निःप्रकम्पः।
संसारबन्धमवधूय स धूतमोह-
श्चैतन्यरूपमचलं शिवतत्त्वमेति॥२२॥

अर्थ- मध्यस्थ बुद्धि को धारण करनेवाला जो पुरुष इस तरह तत्त्वार्थसार को जानकर निश्चल चित्त होता हुआ मोक्षमार्ग का आश्रय लेता है वह निर्मोह संसारबन्ध को दूर कर चैतन्यस्वरूप अविनाशी मोक्षतत्त्व को प्राप्त होता है।

वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्यानां तु पदावलिः।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तॄणि न पुनर्वयम्॥२३॥

अर्थ- वर्ण-अक्षर, पदों के कर्ता है, पदों का समूह वाक्यों का कर्ता है और वाक्य इस शास्त्र के कर्ता हैं, हम-अमृतचन्द्राचार्य नहीं हैं।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरीणां कृतिः तत्त्वार्थसारो नाम मोक्षशास्त्रं समाप्तम्।

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य की कृति तत्त्वार्थसार नाम का मोक्षशास्त्र समाप्त हुआ।